प्रकरण : २

रस का ऐतिहासिक विवेचन तथा अपने अंगों के साथ विस्तृत वर्णन

२.१ : रस का ऐतिहासिक विवेचन ।

२.२ : रस का अपने अंगों के साथ विस्तृत वर्णन ।

२.१ : रस का ऐतिहासिक विवेचन

२.१.१ : रस सिद्धांत का आविष्कार एवं क्रमशः परिवर्तन :-

संस्कृत भाषा में 'रस' शब्द के अनेक अर्थ विद्यमान हैं। स्वादेन्द्रिय द्वारा अनुभव होने वाले खाद्य पदार्थ के ६ - छः स्वाद मीठा, कड़वा, तीखा, नमकीन, खट्टा तथा कसैला को 'रस' कहा गया है। किसी चीज़ के अर्क (द्रव्य) तथा प्रवाही (पेय) पदार्थ को भी 'रस' कहा गया है। इनके उपरांत वैद्यक के अनुसार शरीर में उपस्थित सात धातुओं में से पहली धातु, किसी पदार्थ का सार तत्त्व, रसेन्द्रिय का संवेदन या ज्ञान, मानसिक इच्छावृत्ति तथा रुचिकरता, मन में उत्पन्न होने वाला आनंद, आकर्षण, ब्रह्म के अनुभव का आनंद - ब्रह्मानंद, परमानंद, इत्यादि के लिए भी 'रस' शब्द का प्रयोग हुआ है।

सौन्दर्यशास्त्र में मन के विभिन्न अस्पष्ट या अर्धस्पष्ट भावों के स्पष्ट, परिष्कृत, प्रस्तुत स्वरुप को 'रस' कहा गया है। मनोभावों को अनुभूति का विषय माना गया है तथा 'रस' को उसका अभिव्यक्त रूप माना गया है।

रस के इस मार्मिक अर्थ को सर्वप्रथम भारतवर्ष के ऋषि-मुनिओं ने जाना है। उन्होंने कलाओं में रस तत्त्व की उपस्थिति को समझते हुए, उसका विवेचन करते हुए अनेक सूत्रों का निर्माण किया है। इन ऋषि-मुनिओं में महामुनि दुहिण, भरतमुनि, इत्यादि विशेष उल्लेखनीय नाम हैं।[१]

रस-सिद्धांत का सर्वप्रथम उल्लेख उपनिषद (जो कि वेद का ही शीर्षभाग है) में मिलता है। इस सिद्धांत को प्रतिष्ठापित करने का कार्य भरतमुनिकृत ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' से हुआ है। 'नाट्यशास्त्र' में लिखा गया है, कि चारों वेद से जीवन की रीति-नीति का ज्ञान प्राप्य था, परंतु आनंद-विनोद हेतु कुछ उपलब्ध नहीं था। देवों द्वारा ब्रह्मा को कोई 'क्रीडनक' के लिए अनुनय करने पर उन्होंने चारों वेदों का स्मरण

कर उनमें से 'नाट्यवेद' की रचना की। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में नाट्य के चार प्रमुख अंगों के उल्लेख के साथ उन्हें कहाँ से ग्रहण किया गया है, वह भी बताया गया है। तद्अनुसार ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस ग्रहण किये गए हैं। इस प्रकार रस-सिद्धांत के मूल अथर्ववेद में माने गए हैं।[२]

वाल्मीकिमुनि ने अपने ग्रंथ 'रामायण' में भी रस-तत्त्व का वर्णन किया है। अतः कुछ विद्वानों का मत है, कि रस-सिद्धांत के मूल 'रामायण' से जुड़े हैं।

वस्तुतः रस का आविष्कार हृदयगत भाव में से ही है। सर्जक - जो अत्याधिक संवेदनशील होने के कारण - जीवन से अनुभूतिओं को ग्रहण करता है तथा उसे 'रस' में परिवर्तित करता है, जिससे वह व्यापक स्तरीय रूप ग्रहण करता है।

भारतीय रसशास्त्र का इतिहास नाट्यशास्त्र (के संभवित रचनाकाल) से लेकर उस पर रची गई अभिनवगुप्त की टीका तक का माना जाता है, अर्थात् ई.स. ५०० से लेकर ई.स. ११०० तक का समय। इस समय के दौरान रस विषय पर काफ़ी मत-मतांतर होते रहें तथा परिणाम स्वरुप रस संबंधी सार्वत्रिक मान्यता में परिवर्तन आते रहें।[३]

रस-सिद्धांत का सर्वप्रथम विस्तृत, विश्लेषणात्मक वर्णन भरतमुनि ने किया है। उनके मतानुसार प्रधान (मुख्य) चार (४) रस हैं : श्रुंगार, रौद्र, वीर एवं बीभत्स।

> "तेषामुत्पत्तिहे तवश्चत्त्वारों रसाः।
> तद्यथा श्रङ्गारों रौद्रो वीरो बीभत्स इति।।"

अन्य चार (४) रस हास्य, करुण, अद्भुत तथा भयानक की उत्पत्ति इन मुख्य चार की अनुकृति के रूप में हुई, ऐसा भरतमुनि का मत है।

इसे स्पष्ट करने वाले श्लोक 'नाट्यशास्त्र' में विद्यमान हैं। ये श्लोक इस प्रकार हैं :

"श्रुंङ्गारादिध भवेद्धास्यो रौद्राच्य करुणो रसः।
विराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्य भयानकः।।"

अर्थात्, श्रुंगार रस में से हास्य रस, रौद्र रस में से करुण रस, वीर रस में से अद्भुत रस तथा बीभत्स रस में से भयानक रस का उद्भव होता है।

"श्रुंङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु प्रकीर्तितः।
रौद्रस्येव तु यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः।।"

अर्थात्, श्रुंगार रस की अनुकृति हास्य रस कहा जाता है तथा रौद्र रस के कर्म स्वरुप जो उत्पन्न होता है, उसे करुण रस मानना चाहिए।

"वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः।
बीभत्सदर्शनं यच्च्य ज्ञेयः स तु भयानकः।।"

अर्थात्, वीर रस के कर्म स्वरुप जो उत्पन्न होता है, उसे अद्भुत रस कहा जाता है तथा बीभत्स रस के दर्शन से जो उत्पन्न होता है, उसे भयानक रस मानना चाहिए।

इस प्रकार भरतमुनि ने कुल आठ (८) रस माने हैं। 'नाट्यशास्त्र' में इसे स्पष्ट करते हुए श्लोक इस प्रकार हैं :

"श्रुंङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।"

अर्थात्, श्रुंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स तथा अद्भुत - ये आठ (८) रस नाट्य में निहित हैं।

"एतेह्यस्टौ रसाः प्रोक्ता दुहिणेन महात्मना।"

अर्थात्, महर्षि दुहिण के मतानुसार (भी) आठ (८) रस विद्यमान हैं।

अग्निपुराण कर्ता श्री व्यास मुनि ने भी उपरोक्त मत ही दर्शाया है।

उल्लेखनीय है, कि भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में इन आठ (८) रस के विस्तृत वर्णन के उपरांत नवें रस की ओर संकेत किया है।

कुछ विद्वानों के मतानुसार उद्भट ने उपरोक्त आठ (८) रस के उपरांत नवें शांत रस की उद्भावना की।

भरतमुनि द्वारा वर्णित आठ (८) रस में नवें शांत रस को शामिल करने का श्रेय मुख्यरूप से अभिनवगुप्त को दिया जाता है। उनसे नौ (९) रस का सिद्धांत प्रचलित हुआ। ९ रस संख्या तथा उसका सिद्धांत रस संबंधी शास्त्र में सर्वाधिक प्रचलित है। उल्लेखनीय है, कि अभिनवगुप्त ने नवें शांत रस की प्रेरणा भरतमुनि से ही ली है। उन्होंने शांत रस में अन्य ८ रस का आविर्भाव बताते हुए उसे सर्वोच्च माना।

अभिनवगुप्त द्वारा नवें शांत रस का प्रतिपादन हुआ। साथ-साथ दक्षिण के शासक इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय का भी नौ (९) रस के प्रचार-प्रसार में योगदान रहा। ९ रस के प्रति उनका अत्याधिक लगाव था, जिसके कारण उन्होंने अपने धृपद-संग्रह का नाम तो 'किताबे-नौरस' रखा है, इतना ही नहीं, अपनी कई प्रिय वस्तुओं का नाम 'नौरस' रखा। इन वस्तुओं में हाथी, महल, खजाना, रत्न, इत्यादि समाविष्ट थे। इससे 'नौरस' यानि उत्कृष्ट चीज़ - ऐसी एक धारणा बनी। काफ़ी समय तक ९ रस-संख्या सु-निश्चित रही। नौ की संख्या एक प्रकार से रस के साथ समरस हो गई।

फिर भी, कई विद्वानों द्वारा नौ रस से भिन्न विचार भी होते रहे।

अभिनवगुप्त के ९ रस सिद्धांत के पश्चात साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने दसवाँ रस वात्सल्य रस भी बताया, जिसे मान्यता भी मिली।

इष्टदेव के प्रति परम श्रद्धा रखनेवाले विद्वानों ने उपरोक्त १० रस में अन्य एक रस सम्मिलित किया - भक्ति रस। इस प्रकार रस की संख्या ११ मानी गई। (इनके उपरांत प्रेम या प्रेयान्, सख्य, इत्यादि रस की भी अवधारणा का वर्णन प्राप्य है, पर स्वतंत्र रस के रूप में उन्हें अधिक मान्यता नहीं मिली।)

उल्लेखनीय है, कि कुछ विद्वानों ने वात्सल्य तथा भक्ति को भी श्रुंगार के ही प्रकार बताए हैं। उनके अनुसार इन तीनों रस के मूल में जो भाव विद्यमान है, वह एक ही है, सामान्य है।

रस की सर्वोच्चता संबंधी विद्वानों में मत-मतांतर है। कोई श्रुंगार को, तो कोई हास्य को, कोई वीर को, तो कोई अद्‌भुत को, कोई करुण को, तो कोई शांत को और कोई भक्ति को सर्वोच्च रस मानते हैं। वास्तव में सभी रस का महत्त्व समान है, क्योंकि सभी की उत्पत्ति भावनाओं से हुई है। उनके परस्पर तफ़ावत ने भिन्न-भिन्न रस दिए, पर सभी के मूल में तो एक ही चीज़ है - संवेदना। अतः किसी एक को उच्च और अन्य को निम्न मानना उचित नहीं होगा।[४]

विकासवादी सिद्धांत के अनुसार सर्वप्रथम ब्रह्मा के अहंकार से ममता की उत्पत्ति हुई। ममता से रति और रति से श्रुंगार जन्मा। प्रीतिमुलक होने के कारण श्रुंगार आनंदमय है। आनंद में बाधा पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है, जो रौद्र रस है। क्रोध आने पर विरोधी तत्त्वों का शमन करने हेतु हृदय में उत्पन्न होने वाला उत्साह वीर रस है। इस क्रिया के समय प्रतिपक्षीयों से घृणा हो जाने पर हृदय का संकुचित होना ही बीभत्स रस है। श्रुंगार की नक़ल करने के फलस्वरुप हास्य रस की उत्पत्ति हुई। क्रोध में दूसरों पर किये गए संहारकारी हमलों के फलस्वरुप होने वाली क्षति को

देखकर हृदय में करुणा जाग्रत होती है, जो करुण रस है। वीरता से चकित होना अद्भुत रस है। बीभत्स देखकर आशंका या भय का संचार भयानक रस है।[५]

विदीत है, कि रस-सिद्धांत के आविष्कार के बाद उसमें समय-समय पर परिवर्तन आते रहें। रस की कुल संख्या ४, ८, ९, १० तथा ११ मानी गई।

वात्सल्य तथा भक्ति को श्रृंगार रस की ही शाखाएँ मानकर कुल ९ रस मानने वाला तर्क वर्तमान समय में भी महद रूप से प्रचलित है।

रस की संख्या को लेकर मत-मतांतर 'नाट्यशास्त्र' से ही शुरू हुए, क्योंकि उसमें विस्तृत वर्णन आठ (८) रस का है, नवें शांत रस की ओर संकेत है, परंतु अन्य आठ (८) रस की तरह उसका अभिनय इत्यादि में विनियोग नहीं दर्शाया गया है।

महत्त्वपूर्ण बात यह है, कि विद्वानों द्वारा संख्या बढाई गई, पर कोई एक रस को हटाकर उसके स्थान पर नया रस प्रस्थापित नहीं किया गया। इससे यह स्पष्ट होता है, कि रस-सिद्धांत का आविष्कार अत्यंत सूक्ष्म स्तर पर, तर्कपूर्ण विचार-विमर्श के साथ हुआ होगा। मनोभावों के जिन प्रकारों के आधार पर विभिन्न रस का निर्माण माना गया, उन प्रकारों को काफ़ी बारीकी से समझा गया होगा, छाना गया होगा। तभी शतकों के बाद भी, मन में स्थित भावों के इन्हीं प्रकारों की उपलब्धि आज भी पाई जाती है। उस समय जिसे अन्य से भिन्न स्वतंत्र मनोभाव (रस का मूल, कारण) माना गया होगा, उसी को आज भी माना जाता है।

२.१.२ : रस विषय पर विभिन्न विद्वानों के मंतव्य :-

भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के रस-सिद्धांत के उल्लेख के साथ सर्वप्रथम याद आने वाले विद्वान महामुनि भरत है। यद्यपि उन्हें इस सिद्धांत के आविष्कारक नहीं माना जाता, क्योंकि उनसे पूर्व महामुनि दुहिण इत्यादि भारतीय ऋषिओं को इस विषय का ज्ञान था। परंतु रस-सिद्धांत के सर्वप्रथम संकलनकर्ता तथा विवेचक भरतमुनि को ही माना जाता है। रस तत्त्व के तमाम पहलूओं का समग्रलक्षी आकलन करके उनकी सुव्यवस्थित, विधिवत् चर्चा करने का श्रेय उन्हीं को जाता है।

रस की शास्त्रीय विवेचना प्रस्तुत करने वाला सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' ही है। रस का प्रारंभिक परिचय देने वाला भरतमुनि का यह सूत्र प्रसिद्ध है :

"तत्र विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पतिः।
तथा नाना भावोपगभाद्रस निष्पतिः।।"

अर्थात्, जिस प्रकार नाना (विविध) प्रकार के व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से षाडवादि (भोजन) रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भाव - विभाव, अनुभाव तथा व्याभिचारीभाव से संलग्न होकर (स्थायीभाव) रस की निष्पत्ति करते हैं। इन घटकों के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है।[६]

'संयोग' शब्द का अर्थ पुनः स्पष्ट करते हुए उनका कथन है :

"यथाहि नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुञ्जानां रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यंजितान् वागंगसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति।"

अर्थात्, जिस प्रकार नानाविध व्यंजनों से संस्कृत अन्न का उपभोग करते हुए प्रसन्नचित्त पुरुष रसों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार प्रसन्न प्रेक्षक विविध भावों एवं अभिनयों द्वारा व्यंजित (संयुक्त) स्थायीभावों का आस्वादन करते हैं तथा हर्षादि को प्राप्त होते हैं। तात्पर्य यह है, कि जिस प्रकार द्रव्य, व्यंजन, औषधि आदि का अन्न के साथ संयोग होने पर षाडवादि भोज्य रस बनते हैं, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव और व्याभिचारीभावों का स्थायीभाव के साथ संयोग होने पर नाट्य रस बनते हैं। आधारभूत तत्त्व है स्थायीभाव - जो विभाव, अनुभाव तथा व्याभिचारीभाव के साथ संलग्न होने से रस की सिद्धि होती है। इन तीनों से उत्तेजित स्थायीभाव अपने योग्य रस उत्पन्न करता है, जैसे वह पुष्प और रस फल हो।

भरतमुनि ने 'रस' की व्याख्या एवं चर्चा नाट्य कला के अंग के रूप में की है, परंतु रस को मूलभूत अंग मानते हुए अन्य सभी ललित कलाओं ने इस चर्चा को आधार के रूप में अपनाया है। उन्होंने नाट्य कला के परिप्रेक्ष्य से ४ मुख्य तथा ४ आधारित - कुल मिलाकर ८ रस का विस्तृत वर्णन दिया : श्रृंगार, हास्य, रौद्र, करुण, वीर, अद्भुत, बीभत्स तथा भयानक। नवें शांत रस का उल्लेख मात्र किया है, पर उसे नाट्य में निहित नहीं माना। (नाट्यशास्त्र में मुख्यतः चार पहलूओं पर चर्चा की गई है : नाट्य, नर्तन, वादन-गायन तथा रस। पहले तीनों रस की प्रत्यक्ष या परोक्ष अभिव्यक्ति ही है। उल्लेखनीय है, कि नाट्यशास्त्र में गायन-वादन-नर्तन की चर्चा नाट्य के उपलक्ष्य में ही की गई है।) उन्होंने नाट्यगृह के कद तथा कृति की (समय की दृष्टि से) लम्बाई को भी रस-निष्पत्ति के परिप्रेक्ष्य से तय किया है।

उल्लेखनीय है, कि भरतमुनि ने रस के 'सारतत्त्व' तथा 'आनंदरूपता' दोनों गुणों को मान्यता दी है, मगर उनका दृष्टिकोण, अभिगम आध्यात्मिक या तत्त्वज्ञान-संबंधी न होते हुए मनोवैज्ञानिक, व्यावहारिक, सामाजिक है। उन्होंने 'रसो

वै सः' जैसा कोई विधान नहीं किया, उसे ब्रह्मानंद नहीं माना। उनके अनुसार रस भावनाओं से संलग्न सौन्दर्यलक्षी आनंद प्रदान करता है।७

भरतमुनि ने रस को आस्वाद्य पदार्थ माना है। रंगमंच (या अन्य माध्यमों) पर प्रदर्शित स्थिति ही रस है। उन्होंने कहा है, कि "न हि रसाद्वेत कश्चीदायर्थ प्रवर्तते।" अर्थात्, रस के बिना कोई बात प्रारंभ नहीं होती। उन्होंने 'नाट्यधर्मी' (कला-सौन्दर्यलक्षी) तथा 'लोकधर्मी' ऐसे दो भेद बताकर रस को नाट्यधर्मी अर्थात् लौकिक से भिन्न बताया है।८

"यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति,
यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यौञ्जनौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते,
तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति।।"

- 'नाट्यशास्त्र'।

अर्थात्, विभिन्न व्यंजन, औषधि तथा द्रव्यों से नवीन, उनसे भिन्न भोज्य रस बनता है, उसी प्रकार विविध भावों से संयोजित स्थायी भाव एक नए रस का निर्माण करता है।

"यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम्।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जनाः।।
भावाभिनयसम्बद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः।।"

- 'नाट्यशास्त्र'।

अर्थात्, जिस प्रकार स्वाद का रसिक मनुष्य भोज्य रस में विभिन्न द्रव्यों का आनंद लेता है, उसी प्रकार (कला रसिक) बुद्धिमान व्यक्ति नाट्यरस में स्थायीभाव इत्यादि का आनंद लेता है।

"किं रसेभ्यो भावनामभिनिर्वृत्तिरुताहो भावेभ्यो रसानामिति ?।
केषाञ्चिन्मतं परस्परसम्बद्धादेषामभिनिष्पत्तिरिति।
तन्न। कस्मात् ?।
दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिवृत्तिः;
न तु रसेभ्यो भावनामभिनिर्वृत्तिरिति।।"

- 'नाट्यशास्त्र'।

अर्थात्, रस भाव को उजागर करते हैं, कि भाव रस की निर्मिति ? वास्तव में दोनों के मध्य गहरा कार्य-कारण संबंध है। परंतु, पाया जाता है, कि रस निर्मिति से भाव का समापन (या रस में विलीनीकरण) होता है, जब कि रस से भाव का निर्माण नहीं होता।

"यथा बीजाद् भवेद्वृक्षो वृक्षात् पुष्पं फलं तथा।
तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवस्थिताः।।"

- 'नाट्यशास्त्र'।

अर्थात्, बिज में से वृक्ष बनकर पुष्प एवं फल आते हैं, उसी प्रकार भाव से रस निर्मित होता है।[९]

रस-सिद्धांत की चर्चा के प्रारंभ में ही भरतमुनि ने प्रश्न रखा है, : "रसं इति कः पदार्थः ?" उत्तर में जो भी कुछ कहा गया, यह प्रश्न स्वयं ही स्पष्ट करता है, कि रस का अध्ययन एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में किया गया।

भरत के सूत्र का विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न तरीकों से विवेचन किया, पर वे उनकी परिभाषा से बाहर नहीं गये। अतः स्पष्ट होता है, कि 'नाट्यशास्त्र' की उद्भावनाएँ स्वतः सम्पूर्ण हैं। उन्हें आज भी माना जाता है, अतः वे शाश्वत हैं, सनातन हैं।[१०]

भरतमुनि का मानना है, कि रसानुभव प्रेक्षक / श्रोता को कल्पनात्मक (काल्पनिक) सृष्टि में ले जाता है। कलाकृति में प्रस्तुत कल्पना रसिक के मनःपटल पे उसकी निजी कल्पना से मिलकर नवीन रूप ग्रहण करती है। इस प्रकार रसानुभव कलाकार की कल्पना के उपरांत रसिक की अपनी कल्पना को भी सकारित करता है।

रसानुभव के लिए भरतमुनि ने रसिक की कुछ योग्यता को भी आवश्यक माना है। उनके मतानुसार रसिक में ये गुण होने चाहिए :

१) कलाओं का ज्ञान।

२) रस तथा उससे संबंधी मानसिक-शारीरिक परिस्थितिओं का ज्ञान।

३) विभिन्न भाषा तथा बोली का ज्ञान।

४) एकाग्र होने की क्षमता।

५) त्वरित ग्रहणशक्ति।

६) निष्पक्ष रहने की क्षमता।

७) कला में रस (रूचि)।

८) कला-प्रस्तुति से तादात्म्य साधकर फलित रस का अनुभव करने की क्षमता।

९) व्यक्तिगत सुख-दुःख की भावना के अतिरेक से मुक्त रह पाने की क्षमता (कम से कम रसानुभव के दौरान)।

१०) चारित्र्यवान एवं कुलवान।[११]

'नाट्यशास्त्र' के छठवें अध्याय 'रसाध्याय' में भरतमुनि ने उचित रूप से कहा है, कि रस-निष्पत्ति न हो सके, ऐसी अभिव्यक्ति का कोई अर्थ नहीं।[१२]

भरतमुनि के द्वारा रस सिद्धांत की स्थापना के बाद अनेक विद्वानों ने उसका विश्लेषण-विवेचन किया है। वेदव्यासजी ने भी 'अग्नि पुराण' में रस का वर्णन किया है तथा उनके बाद कई संस्कृत आचार्यों ने इसी विषय पर विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है।[१३] भरतकृत "विभावानुभाव संचारी संयोगाद्रसनिष्पत्ति" वाक्य के 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति' शब्द को लेकर विद्वानों में काफ़ी विवाद रहा है तथा दार्शनिक चर्चा भी हुई है। इन दोनों शब्दों के अर्थघटन के तफ़ावत से मुख्य चार मत उत्पन्न हुए हैं : १) उत्पत्तिवाद - जो आचार्य भट्ट लोलट द्वारा दिया गया है; २) अनुमितिवाद - जो आचार्य शंकुक द्वारा दिया गया है; ३) मुक्तिवाद - जो आचार्य भट्ट नायक द्वारा दिया गया है तथा ४) अभिव्यंजनावाद - जो आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा दिया गया है। उल्लेखनीय है, कि इन चारों मतों के विचारों का संग्रह मात्र अभिनवगुप्त के दो ग्रंथ 'अभिनव भारती' तथा 'ध्वन्यालोकलोचन' और 'काव्यप्रकाश' में ही प्राप्य है। अन्य तीन आचार्यों के ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। अतः वर्तमान समय में इन चारों मतों की चर्चा अभिनव गुप्त के ग्रंथों के आधार पर ही की जाती है।[१४]

आचार्य भट्ट लोलट 'संयोग' शब्द का अर्थ 'मेल' या 'संबंध' तथा 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ 'उत्पत्ति' बताते है। उनके अनुसार विभाव, अनुभाव तथा व्याभिचारीभाव के संयोग से होने वाली स्थायीभाव की उत्पत्ति ही रस है। अतः इस दृष्टिकोण को 'उत्पत्तिवाद' कहा गया है। लोलट के अनुसार विभाव से रस की उत्पत्ति, व्याभिचारी (संचारी) भाव से पुष्टि तथा अनुभाव से प्रतीति, अभिव्यक्ति होती है।[१५]

उन्होंने सौन्दर्य तथा रस को विषयगत अर्थात् कलाकृति में निहित माना है।[१६]

आचार्य लोलट का अभिप्राय है, कि रस की उत्पत्ति राम इत्यादि ऐतिहासिक पात्र में तथा (अत्यंत) गौणरूप से उसकी प्रतीति रसिकगण में होती है। उदाहरण

स्वरुप, सीता आदि आलंबन विभाव तथा उद्यान आदि उद्दीपन विभावों से राम आदि आश्रयों में रति इत्यादि स्थायीभावों की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार सर्पाकार रस्सी सर्प का भय उत्पन्न करती है, उसी प्रकार राम का अभिनय करने वाला नट भी अपनी निपुणता से राम में विद्यमान रस रसिक तक पहुँचाता है।[१७]

स्पष्ट है, कि लोलट ने रस का मुख्य स्थान प्रस्तुत होने वाले ऐतिहासिक पात्र में तथा गौण रूप से प्रस्तुत करने वाले नट में माना है। उनका मंतव्य नाट्यशास्त्र तथा तत्त्वज्ञान की प्रणालीओं का मिश्रण माना गया है।[१८]

लोलट की रस-विचारणा में रसिक को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया। उनका रस के प्रति दृष्टिकोण काफ़ी व्यावहारिक है। उनके अनुसार मूल मनोभावना - स्थायीभाव के विकास का सर्वोच्च स्तर ही रस है।[१९]

भट्ट लोलट ने भरतमुनि द्वारा वर्णित आठ (८) रस को ही माना है।

आचार्य शंकुक का मत है, कि नट के कुशल अभिनय से स्थायीभाव का भ्रम होता है, जिससे रसिक नट में रस का अनुमान करते हैं। अतः इस दृष्टिकोण को 'अनुमितिवाद' कहा गया है। उत्पत्तिवाद के विपक्ष में इसकी स्थापना हुई। स्थायीभाव के बोध के लिए विभाव, अनुभाव तथा व्याभिचारीभाव की उपस्थिति आवश्यक मानी गई है। रस निष्पत्ति के लिए अभिनय कौशल्य को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार रस का सर्वप्रथम दार्शनिक विवेचन करने का श्रेय आचार्य शंकुक को जाता है।[२०]

उन्होंने सौन्दर्य तथा रस को विषयीगत अर्थात् रसिक में निहित माना है। इसे 'अनुभुतिवाद' भी कहा गया है।[२१]

शंकुक के अनुसार रस नट में नहीं है, पर नट में उसकी प्रतीति है। यह प्रतीति उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार चित्र-निर्मित अश्व में वास्तविक अश्व की प्रतीति

होती है। नट द्वारा निपुणतापूर्वक विभाव आदि प्रस्तुत किये जाने पर रसिक को वे नट के ही अनुभव होते हैं तथा उसे रसानुभव की प्राप्ति होती है।[२२]

उनके अनुसार कला के जरिये वास्तविकता का क्षणिक पर अति आनंददायी रसानुभाव होता है। उनका (भट्ट लोलट से विपरीत) कथन है, कि सिर्फ़ मूलभूत मानसिक स्थिति - स्थायीभाव के निरीक्षण से रसानुभव संभव नहीं है। विकसित स्थायीभाव को रस मानने से भी इन्होंने इनकार किया है। इसके पीछे इनका तर्क है, कि (स्थायी भाव के) विकास की एकाधिक कक्षाएँ होती है, परिणाम स्वरुप प्रत्येक रस के विभिन्न प्रकार होने चाहिए। परंतु सिर्फ़ हास्य के छः और श्रृंगार के दो प्रकार के अतिरिक्त प्रत्येक रस का एक ही भेद भरतमुनि द्वारा दिया गया है। करुण रस का स्थायीभाव शोक प्राथमिक कक्षा में प्रबल तथा उच्च कक्षा में क्षीण है। अतः स्थायीभाव की विकसित, उच्च कक्षा रस है, ऐसा नहीं माना जा सकता।[२३]

शंकुक मंच पर प्रदर्शित रस तथा रसिक के मनःपटल के रस तत्त्व में तफ़ावत दर्शाने वाले प्रथम लेखक माने जाते है। उनका अभिगम मनोज्ञानात्मक (मानसिक) है। उनके अनुसार रसिक का मंच-रसानुभव उसके पूर्वग्रहों पर भी आधारित होता है (जिस प्रकार अश्व के चित्र मात्र से अश्व मेहसूस होता है, उसी प्रकार)।[२४]

शंकुक ने भरतमुनि द्वारा वर्णित आठ (८) रस को ही माना है।

आचार्य भट्ट नायक ने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का खंडन किया है। उनका मत है, कि रस की न उत्पत्ति होती है, न तो अभिव्यक्ति और न ही प्रतीति। रस की मुक्ति होती है। अतः इस दृष्टिकोण को 'मुक्तिवाद' कहा गया है। रसिक की अनुभूति पर आग्रहपूर्वक विचार करने वाले भट्ट नायक प्रथम व्याख्याता माने जाते है। रसानुभूति की (सर्वप्रथम) तात्त्विक व्याख्या करते हुए उन्होंने उसे विशुद्ध आत्मविश्रान्ति से हीनतर बताया है।[२५]

उन्होंने सौन्दर्य तथा रस को विषयीगत अर्थात् रसिक में निहित माना है।[२६]

उन्होंने पात्र या नट में रस की स्थिति मानने को उचित नहीं माना। रसानुभव के लिए रसिक के वास्तविक जीवन के उस अनुभव को आवश्यक नहीं माना। उनका तर्क था, कि रसानुभव के समय वास्तविक अनुभव याद नहीं आता तथा वास्तविक जीवन में किसी चीज़ का अनुभव न हो, तो भी उसका कला में रसास्वाद तो हो सकता है।[२७]

भट्ट नायक का कथन है, कि नट के पात्र-सर्जन से पात्र-रस निष्पन्न होता है, पर नट का निजी व्यक्तित्त्व कायम होता है। उन्होंने रसानुभव रसिक के व्यक्तित्त्व पर आधारित नहीं माना। रसानुभव को रजोगुण तथा तमोगुण से मुक्त, योग द्वारा प्राप्त सत्त्वगुणरूपी ब्रह्मानंद के समान बताया है। उन्होंने ज्ञान को रसानुभव के लिए नकारात्मक प्रभावी माना है। रस को ब्रह्मात्मक या सूचित मानने से इनकार किया है।[२८]

उन्होंने रस-मुक्ति (रस उजागर होने) के लिए काव्य की तीन शक्तियाँ जिम्मेवार मानी है : १) 'अभिधा' - श्रोता के मन में शब्द के साथ जुड़ी पारंपारिक (पूर्व) छवि जाग्रत करने की शक्ति, २) 'भावकत्त्व' - प्रस्तुत सौन्दर्यात्मक वस्तु को सामान्य जीवन के प्रसंगों से मुक्त करके उसे सर्वसाधारण करने की शक्ति तथा ३) 'भोजकत्त्व' - सौन्दर्यात्मक वस्तु में से रजस् तथा तमस् को दूर रखकर सत्त्वगुण को उपर लाने की शक्ति। इस प्रकार, उनके अनुसार सत्त्वगुण की प्रधानता के कारण, पूर्ण आनंद की स्थिति में साधारणीकृत (विषय का, साधारणीकृत व्यक्ति को होने वाला) अनुभव रसानुभव है।[२९]

भट्ट नायक ने भरतमुनि द्वारा वर्णित आठ (८) रस को ही माना है।

आचार्य अभिनवगुप्त को पूर्ववर्ती विद्वानों के विचारों के परीक्षक एवं संशोधक माना जाता है। उनके दर्शन आधारित चिंतन को (पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के चिंतन की अपेक्षा) अत्याधिक गंभीर, प्रमाणिक तथा रस चिंतन की पराकाष्ठा माना गया है।

उनके अनुसार 'निष्पत्ति' का अर्थ है 'अभिव्यक्ति' या 'व्यंजना' और 'संयोग' का अर्थ है 'व्यंग्य-व्यंजक संबंध'। अतः इस दृष्टिकोण को 'अभिव्यंजनावाद' कहा गया है। उन्होंने काव्यार्थ को ही रस मानते हुए बताया है, कि सहृदय को उसकी अधिक प्रतीति होती है। यह प्रतीति देश-काल से विमुख (मुक्त) है तथा उसमें आत्मा विशेषरूप से न तो उपेक्षित है, न ही उल्लेखित। यह प्रतीति समस्त जन-समुदाय के लिए एकरूप तथा चमत्कारात्मक है। विद्वानों का मत है, कि वास्तव में भरत के मत का वास्तविक अर्थ समझाने में अभिनवगुप्त ही सफल रहे।[३०]

उन्होंने सौन्दर्य तथा रस को विषयीगत अर्थात् रसिक में निहित माना है। परंतु उनका संपूर्ण रस-विश्लेषण ध्यान में लेते हुए उन्हें समन्वयवादी माना गया है।[३१]

उनके अनुसार सामान्य व्यवहार के भौतिक तत्त्व कला में अलौकिक व्यापारों से युक्त हो जाने से (रस के) विभाव कहलाते हैं। रस को सार्वत्रिक, हृदयस्पर्शी, ब्रह्मास्वाद करवाने वाला, विलक्षण एवं चमत्कारी बताया है। रस को उत्पाद्य (कारण से जन्य कार्य) तथा ज्ञाप्य (पूर्वसिद्ध वस्तु जिसका ज्ञापन हो सके) नहीं माना।[३२]

सौन्दर्य-विवेचना का उच्चतम, उत्कृष्ट स्वरुप समान अभिनवगुप्त का सिद्धांत शैव संप्रदाय की तत्त्व-मीमांसा पर आधारित माना जाता है। उनके अनुसार सौन्दर्यात्मक (रसात्मक) अनुभव ऐसी नीवीं - मूलभूत मानसिक स्थिति है, जो चेतना में मौजूद तथा सभी बाधाओं से मुक्त है। यह माया से मुक्त पारलौकिक अनुभव वैयक्तिक न होकर सार्वत्रिक है, बाहरी संदर्भों से मुक्त चेतना है, आनंद है। 'रस' संज्ञा का अर्थ उन्होंने 'जिसका आस्वादन हो सके' तथा 'आस्वादन करवाना' ऐसा बताया है : "रस्यते इति रसः।" तथा "रसानाम रसः।" शंकुक की 'रस यानि परिस्थिति से अनुमानित मूलभूत मानसिक स्थिति' व्याख्या को अभिनवगुप्त ने नहीं माना है तथा रस को स्थायी से भिन्न बताया है : "स्थायी विलक्षणो रसः।" रसानुभव परिस्थिति तथा क्षणिक भावनाओं से अलग सिर्फ़ स्थायीभाव का अनुभव नहीं है, बल्कि इन

सभी का संयोग है - ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार विभिन्न व्यंजनों, औषधियों का संयोग भोज्य-रस की निर्मिति करता है। रस-निर्माण में स्थायीभाव सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, जो रसिक की अर्धजाग्रत (या अजग्रत) चेतना में निहित होता है तथा जाग्रत चेतना तक उजागर होता है। उनका मानना है, कि इस तर्क को भरत का समर्थन है। उनका सिद्धांत मुख्यतः नाट्य के सर्वोच्च स्वरुप पर आधारित है। उन्होंने दैनिक जीवन के अनुभव को व्यक्तिलक्षी बताते हुए सौन्दर्यात्मक रसानुभव को उससे भिन्न विषयलक्षी माना है।[३३]

अभिनवगुप्त का रसानुभव का विश्लेषण काफ़ी व्यापक है। उनके मतानुसार रसास्वादन के पाँच स्तर होते हैं। पाँचों स्तर सीढ़ि के पाये की तरह एक के बाद एक है :

१) इन्द्रिय बोध का स्तर : जिसमें रसानुभव संबंधी इन्द्रियाँ नेत्र तथा कर्ण को सौन्दर्य-बोध होता है, सौन्दर्य ग्राह्य होता है।

२) कल्पना स्तर : जिसमें इन्द्रियों से गृहीत सौन्दर्य रसिक की कल्पना को सक्रिय करता है और उसे अधिक आनंद प्राप्त होता है। कला-प्रदर्शन रसानुभूति संबंधी इन्द्रियों को प्रेरित करने के साथ कल्पना शक्ति को भी प्रेरित करता है।

३) भाव स्तर : जिसमें रसिक की कल्पना के बाद भाव-भावनाएँ जाग्रत होती हैं और रसिक स्थूल जगत से विमुख होकर कलाकृति से तादात्म्य अनुभव करता है, नायक तथा रसिक के भाव एकरूप होते हैं।

४) साधारणीकरण का स्तर : जिसमें कलाकृति से तादात्म्य के बाद रसिक में आत्मविस्मृति उत्पन्न होती है। उत्कृष्ट भाव से प्रभावित होने पर अन्य विषयों से विमुखता आती है, जो (प्रत्येक) विशिष्ट रसिक का साधारणीकरण कर देती है। विविध रसिक तथा नायक के विशिष्ट भाव साधारणीकृत होकर एक रसानुभूति में परिवर्तित हो जाते हैं।

५) चरम स्तर : जिसमें रसिक को शुद्ध आत्मानंद का अनुभव होता है। आत्मा स्थायीभाव से प्रभावित होकर स्वयं तथा दिव्य अलौकिक तत्त्व में लीन होती है। यही सर्वोत्कृष्ट रसानुभूति है। इस स्तर के दो पेटा स्तर हैं : प्रथम - जहाँ स्थायीभाव का साक्षात्कार होता है तथा द्वितीय - जहाँ प्रकृष्ट अंतर्मुखता एवं स्थायीभाव की पूर्ण उपेक्षा के साथ प्रमाता तथा प्रमेय का द्वैत लुप्त हो जाता है। इस प्रकार अभिनवगुप्त के अनुसार अपने अंतिम विकसित, चरम स्तर पर रसानुभव अलौकिक परमानंद प्रदान करता है।[३४]

अभिनवगुप्त का मंतव्य है, कि इश्वर-प्राप्ति के लिए (उत्पलाचार्य द्वारा वर्णित) रहस्यवादी शुद्धीकरण द्वारा साधारणीकरण की तरह ही रसानुभव की प्रक्रिया में साधारणीकरण होता है। तफ़ावत यह है, कि रहस्यवादी मार्ग की अपेक्षा रसतत्त्ववादी मार्ग में व्यक्ति का अत्याधिक कम प्रयास आवश्यक है तथा यह मार्ग अत्याधिक आनंदप्रद है। अतः अभिनवगुप्त ने इसे उच्चतर मार्ग माना है। उनके अनुसार रसानुभव का कारण बाह्य परिस्थिति न होकर मनुष्य की आंतरिक वासना आदि है, जो बाह्य परिस्थिति के संयोग से रस-निष्पत्ति करती है। उन्होंने रसानुभव में बाधारूप सात विघ्न बताए हैं : १) रस की अर्थप्राप्ति की अक्षमता, २) स्थल-काल की आंतरलक्षी मर्यादा, ३) स्थल-काल की बाह्यलक्षी मर्यादा, ४) रसिक का व्यक्तिगत वास्तविक सुख-दुःख का प्रभाव, ५) अपूर्ण उत्तेजना के कारण (नाट्य) कलारूप की अस्पष्टता, ६) स्थायीभाव का अप्राधान्य, ७) प्रस्तुति में निहित संशयात्मक तत्त्व।[३५]

अभिनवगुप्त ने अपने रस संबंधी विवेचन में अधिकांश भरतमुनि द्वारा स्थापित सिद्धांत को समर्थन दिया है, परंतु रस-संख्या को लेकर उनका मत भरतमुनि के मत से भिन्न है। भरतमुनि द्वारा वर्णित आठ (८) रस में उन्होंने एक और रस 'शांत' मिलाकर कुल रस-संख्या नौ (९) बताई है। 'भरतनाट्यशास्त्र' ग्रंथ की अपनी टीका 'अभिनवभारती' ग्रंथ में इस रस का निरूपण किया गया है।[३६]

अभिनवगुप्त ने "नाट्य एव रसः न तु लोके" कहकर रस को भौतिक तत्त्वों से भिन्न निर्देशित किया है।[३७]

पं. सारंगदेव ने भी नौ (९) रस को मान्यता दी है। उनका मत है, कि नाट्य कला में अन्य सभी रस की तरह शांत रस का प्रयोग भी संभव है। अपने ग्रंथ 'संगीत रत्नाकर' के 'रागविवेकाध्याय' में उन्होंने राग तथा रस का संबंध दर्शाया है।[३८]

वाल्मीकिमुनि के काव्य-सर्जन पर (आनंदवर्धन द्वारा) कहा गया है, कि रस उनकी आत्मा है। वाल्मीकि के कथनानुसार 'रामायण' में सभी रस है, परंतु (उनमें) करुण मुख्य है।[३९]

भवभूति के 'उत्तर राम चरित' में करुण रस को अत्याधिक प्राधान्य दिया गया है। जिस प्रकार भँवर, बुलबुला, लहर, इत्यादि अंत में पानी के स्वरुप मात्र हैं, उसी प्रकार अन्य रस को करुण रस के स्वरुप माना गया है। परंतु उल्लेखनीय है, कि उनकी ही रचना 'मालती माधव' में श्रृंगार तथा 'महावीर चरित' में वीर रस का प्राधान्य दृश्यमान होता है। अतः विदीत होता है, कि भवभूति ने (मुख्य) करुण के इलावा अन्य रस को भी माना है।

भानुदत्त ने अपने ग्रंथ 'रस तरंगिणी' में नौ (९) रस को मान्यता दी है तथा उनके अतिरिक्त वात्सल्य, लौल्य, भक्ति, तथा कार्पण्य नामक चार रस भी माने है। इनके स्थायीभाव अनुक्रम से आर्द्रता, अभिलाषा, श्रद्धा तथा स्पृहा बताए हैं। उल्लेखनीय है, कि उन्होंने इन चार रस को स्वतंत्र नहीं माना, बल्कि रति - जो कि श्रृंगार रस का स्थायीभाव है - से संलग्न माना है। उन्होंने कहा है, कि व्याभिचारीभाव के रूप में रति करुण रस से संलग्न होकर वात्सल्य, शांत रस से संलग्न होकर भक्ति तथा हास्य रस से संलग्न होकर (कोई इच्छित पदार्थ पाने की लोलुपता हो तब) लौल्य और (जो अपना हो, उसे संभालकर कायम रखने की प्रबल इच्छा हो तब) कार्पण्य की निर्मिति होती है।[४०]

मम्मट ने अभिनवगुप्त की परिभाषा 'रस यानि आनंद, जो आत्मगत होता है, नाट्यादि (कला) के संपर्क से प्राप्त होने वाली भाव-भूमिका की आत्म विश्रान्तमयी आनंद चेतना ही रस है।' - को ही माना है तथा इसका व्याख्यान भी किया है। उन्होंने अपने ग्रंथ 'काव्य प्रकाश' में रस की परिभाषा देते हुए कहा है, कि 'लोक में रति आदि स्थायीभावों के कारण, कार्य और सहकारी - जो काव्य तथा नाटक में क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्याभिचारी कहे जाते हैं - की सहायता से व्यक्त हुआ स्थायीभाव ही रस है।' - "व्यक्त सतैर्विभावद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।"[४१]

रुद्रट ने श्रुंगार रस को प्रधान माना है। उनके अनुसार श्रुंगार रस सर्वाधिक आह्लादक एवं सर्वव्यापी है।[४२]

माहिम भट्ट ने रस को स्थायीभाव का प्रतिबिंब माना है। उन्होंने परिस्थिति तथा स्थायीभाव के संबंध को कार्य-कारण संबंध माना है (तथा बताया है, कि हरेक को इन दोनों का अनुभव एक साथ हो, ऐसा आवश्यक नहीं है)। उनके अनुसार रस का विभाव सामान्य कार्य के कारण से इस प्रकार भिन्न है, कि कारण सनातन सत्य है, जबकि विभाव सिर्फ़ कला में सत्य है। रसिक उन्हें सत्य मान लेते हैं, जो वास्तव में नहीं है। परंतु रसानुभव के लिए ये विभाव आवश्यक हैं। उसी प्रकार, जिस प्रकार आध्यात्मिक उन्नति के लिए पूजा आवश्यक है, या उसका योगदान है, फिर चाहे भगवान व्यक्ति की कल्पना या समझ से भिन्न ही क्यों न हो। उन्होंने रसानुभव को अलौकिक माना है।[४३]

राजा भोज ने अपने ग्रंथ 'श्रुंगार-प्रकाश' में श्रुंगार रस को ही मुख्य, अन्य रस का मूल माना है। उन्होंने श्रुंगार के चार प्रकार दर्शाए हैं : धर्म श्रुंगार, अर्थ श्रुंगार, काम श्रुंगार तथा मोक्ष श्रुंगार। उनके अनुसार अन्य नौ (९) रस (वीर, करुण, अद्भुत, रौद्र, हास्य, बीभत्स, भयानक, शांत तथा वात्सल्य) एक प्रकार से मान्यता है, वास्तव

में रस एक ही हो सकता है। उनके अनुसार रसानुभव अपने चरम स्तर पर आत्मानुभूति है। उनका कथन है, कि वह 'सहृदयत्त्व' का अनुभव है।[४४]

आचार्य धनंजय के अनुसार विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव तथा व्याभिचारीभाव द्वारा स्थायीभाव का आस्वादन रस है। धनिक (उनके भाई तथा टीकाकार) के अनुसार धनंजय तथा अभिनवगुप्त में शांत रस को लेकर मतभेद था। धनंजय ने भरत के आठ (८) रस को ही मुख्य माना है, उनके अनुसार शांत रस काव्य में प्रस्तुत हो सकता है, पर नाट्य में नहीं। उनका मानना है, कि नाट्य गतियुक्त है तथा शांत रस में तमाम प्रवृत्ति - तमाम गति का अंत है। शांत रस सुख-दुःख-स्नेह-वैराग्य से भी परे है, जिसका रसानुभव हरेक साधारण मनुष्य के बस की बात नहीं। उन्होंने ध्वनि सिद्धांत को नहीं माना। भट्ट नायक का अनुसरण करते हुए उन्होंने अभिधा, भावकत्त्व तथा भोजकत्त्व को माना है।[४५]

'साहित्यदर्पण'कार कवि विश्वनाथ महापात्र रस-सिद्धांत की पुनर्व्यवस्था करने वाले परवर्ती आचार्यों में से एक माने जाते है। उनके अनुसार हृदय स्थित किसी भाव स्थायीभाव में परिवर्तित होकर आनंददायी अभिव्यक्ति बनने पर 'रस' कहलाते हैं। 'साहित्यदर्पण' में रस को परिभाषित करते हुए लिखा गया है :

"विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति इत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्।।"

भावार्थ यह है, कि सहृदय पाठक या श्रोता के हृदय में वासना रूप में वर्त्तमान स्थायीभाव ही विभाव, अनुभाव तथा संचारीभावों से मिलकर व्यक्त हुआ रस बन जाता है।

उन्होंने अद्भुत रस को प्रधान माना है तथा उसके समर्थन में (धर्मदत्त के ग्रंथ से लेकर) पूर्ववर्ती उदाहरण प्रस्तुत किया है :

"रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्त्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।
तस्माददद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।।

अर्थात्, हर स्थान पर रस में चमत्कार का अनुभव होता है, जो विस्मय निर्माण करता है, तथा विस्मय अद्भुत रस का स्थायीभाव है, अतः वही (अद्भुत रस) मुख्य रस है (ऐसा नारायण पंडित का कथन है)।[४६]

'रस मीमांसा'कार गंगाराम के मतानुसार शिल्प (कला) से अद्भुत रस की निष्पत्ति होती है तथा शिल्प (कृति) और शिल्पी उसके विभाव है।

आनंदकुमार स्वामी की रस-समीक्षा धार्मिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। उन्होंने क्षणिक व्यक्तिगत भावप्रधान कृति को आकर्षक होते हुए भी सत्यमय सौन्दर्यवान नहीं माना। उनके अनुसार नौ रस वास्तव में एक ही अनुभव के भिन्न-भिन्न वर्ण हैं। रसास्वादन को स्थायीभाव का अनुभव माना है - स्थायीभाव नहीं। रस तथा उसके अनुभव को परस्पर अविभाज्य माना है। उनके अनुसार रस कालातीत, इन्द्रियातीत तथा अलौकिक है, उसका अनुभव ही उसके अस्तित्त्व का प्रमाण है। आनंदकुमार ने रसानुभव के लिए रसिक को भी सक्षम होना आवश्यक बताया है। उनके अनुसार कलाकार की तरह रसिक भी जन्मजात होते हैं तथा कुछ हद तक उन्हें तालीम दी जा सकती है। उन्होंने समर्थन में धर्मदत्त का कथन 'कल्पनारहित रसिक पत्थर के बराबर है', कविवर रवीन्द्रनाथ का कथन 'भारतीय रसिक अपने भाव से कलाकृति को परिपूर्ण अनुभव करते हैं' तथा शुक्राचार्य का कथन 'कृति (प्रतिमा) की अपूर्णता रसिक के भाव (भाविक की भक्ति) से नष्ट हो जाती है' का उल्लेख किया है।

आनंदवर्धन ने कहा है, कि (वाल्मीकि तथा व्यास आदि के सर्जनों से सिद्ध होता है, कि काव्य) कला की आत्मा रस है। उन्होंने कला की चमत्कृति वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि तथा रसध्वनि पर आधारित मानी है।[४७]

आचार्य शुभंकर ने नौ (९) प्रकार के स्थायीभाव से नौ (९) रस की उत्पत्ति मानी है।[४८]

पाश्चात्य विद्वान हेगल का कथन है, कि रस लौकिक माध्यम से आविर्भूत अलौकिक तत्त्व है।

सौरीन्द्र मोहन (एस.एम.) टैगोर के कथनानुसार स्थायीभाव का विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव के माध्यम से अभिव्यक्त होना 'राग' - कलात्मक घटक है।[४९]

'रसगंगाधर'कार जगन्नाथ पंडित ने भी नौ (९) रस को मान्यता दी है। उनके अनुसार आत्मा तथा ब्रह्म के मध्य एक आवरण होता है, जो सौन्दर्य, रस के अनुभव में एकाग्र होने पर दूर होता है। उनका कथन है, कि चैतन्य के उपर से अज्ञान का आवरण हट जाना ही रस चवर्णा है। "रत्याद्यवर्चाच्छन्ना भाग्नावरणा चिद् एव रसः।" अर्थात्, रस रति आदि भावों से आवृत्त चित्त का आवरण दूर हो जाने पर प्रकाशित (वह शुद्ध चेतना है जो आनंदमय) है। विदीत है, कि यह मत तत्त्वज्ञान - दर्शन से भी संबंधित है।[५०]

श्री पांडे ने अपने पुस्तक 'Indian Aesthetics' में भरतमुनि के रस सिद्धांत तथा उनकी (अभिनयगुप्त सहित की) टीकाओं की चर्चा की है।

श्री दासगुप्ता ने 'समरांगण सूत्रधार' में आलेखित रस का विवेचन करते हुए कहा है, कि रस स्वार्थवृत्ति के संतोष से संबंधित है भी (सामान्य भौतिक स्तर पर)

तथा स्वार्थरहित भी है (आध्यात्मिक स्तर पर)। उन्होंने ‘समरांगण सूत्रधार’ में निर्देशित प्रेम रस को श्रृंगार से अधिक व्यापक माना है।[५१]

वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है, कि कलाकार के कौशल्य से सँवरने पर माध्यम में रस का स्रोत उत्पन्न होता है। उन्होंने रस, सौन्दर्य को वस्तुगत माना है।

डॉ. नगेन्द्र ने रसानुभूति को विषयीगत माना है, उनके अनुसार उसकी स्थिति आत्मा में है; वस्तु जैसे लौकिक परिमाण में रस आबद्ध नहीं हो सकता।

डॉ. हरद्वारीलाल शर्मा का मत है, कि सुन्दर वस्तु के सन्निकर्ष से रस की अनुभूति होती है। आत्मा की इस अनुभूति के उदय का कारण वस्तु के सौन्दर्य को मानते हुए उन्होंने रस-सौन्दर्य को वस्तुगत माना है।

आधुनिक रस-विचार में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, कविवर जयशंकर प्रसाद, इत्यादि का महत्त्वपूर्ण योगदान है।[५२]

संस्कृत तथा व्रज भाषा के साहित्य आचार्यों ने रस की विस्तृत आलोचना की है। रस, भाव तथा ध्वनि के सूक्ष्म विवेचन में उन्होंने रस को सर्वोत्तम माना है।

वैष्णव आचार्यों द्वारा भक्तिरस को प्राधान्य देते हुए कुल बारह (१२) प्रकार के रस बताये गए हैं : १) शांत भक्ति, २) प्रीत भक्ति, ३) प्रेयान भक्ति, ४) वत्सल भक्ति, ५) मधुर भक्ति, ६) हास्य भक्ति, ७) अद्भुत भक्ति, ८) वीर भक्ति, ९) करुण भक्ति, १०) रौद्र भक्ति, ११) भयानक भक्ति तथा १२) बीभत्स भक्ति। इनमें प्रथम पाँच रस को मुख्य तथा अन्य सात को गौण माना गया है।[५३]

भक्ति रस को प्रधान मानने वाले आचार्यों में श्रीरूप गोस्वामी का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने व्यवस्थित रूप से एक नये रसशास्त्र, ‘भक्ति रसशास्त्र’ की रचना की। इसमें परंपरागत ९ रस में से २ को लिया और अन्य ३ नये रस लेकर मुख्य ५ भक्ति रस माने। जो १) शांत भक्ति, २) दास्य भक्ति, ३) सख्य भक्ति,

४) वात्सल्य भक्ति और ५) श्रृंगार भक्ति हैं। इन्हें मुख्य मानने की पीछे उनका तर्क यह है, कि ये भाव भक्त तथा भगवान के बीच सातत्यपूर्वक रह पाते हैं। उनकी सोच है, कि परंपरागत ९ रस में से बाकी के ७ का भक्त-भगवान के बीच सातत्य, आनुकूल्य रहना संभव नहीं। अतः उन्होंने इन्हें गौण रस माना।[५४]

काव्य शास्त्राचार्यों ने काव्य की व्याख्या में ही रस का महत्त्व दर्शाया है : 'रसात्मक शब्द समूह यानि काव्य'।[५५]

साहित्यशास्त्र में शांत रस को लेकर मत-मतांतर हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार शांत रस नहीं है, कुछ विद्वानों के अनुसार है तथा कुछ विद्वानों के अनुसार शांत रस काव्य में है, पर नाट्य में संभव नहीं है। विद्वानों का यह मानना है, कि बौद्ध तथा जैन साहित्य के शांत रसप्रधान काव्य तथा नाटक ने इस रस का प्रचार-प्रसार किया है।

भागवत मतानुयायीओं ने भक्ति को मुख्य रस माना है। (परंतु साहित्यकारों ने भक्ति तथा वात्सल्य का आविर्भाव रति - श्रृंगार के स्थायीभाव - से ही बताया है।

बौद्ध तथा जैन धर्म के साहित्य में शांत रस को अत्याधिक महत्त्व प्राप्य है। इसमें शांत रसप्रधान काव्य तथा नाटक उपलब्ध हैं।[५६]

'अग्निपुराण' में लिखा गया है, कि "वाग्वैदग्ध्य प्रधानेपि रस एवात्र जीवितम्।" भावार्थ यही है, कि रस प्रधान तत्त्व है।

इसमें यह भी लिखा गया है, कि

"अक्षरं परम ब्रह्म सनातन यज्ञं विभुम्
वेदान्तेषु वदन्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्।
आनन्द रसहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन
व्यक्ति रसातस्य चैतन्य चमत्कार रासद्रशा।"

अर्थात्, वेदान्त में कहा गया है, कि ब्रह्म अक्षर है तथा परम है, सनातन है, यज्ञ है, विभु है, अद्वितीय है, चेतन है, ज्योति है, ईश्वर है - जिसकी सहज आनंदाभिव्यक्ति 'चैतन्य', 'चमत्कार' अथवा 'रस' कहलाती है।

इसमें अहंकार को रसों का मूल बताया गया है। तर्क दिया गया है, कि अहंकार से अभिमान, अभिमान से रति तथा रति (के परिपोष) से श्रुंगार की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार अन्य स्थायीभावों (के परिपोष) से अन्य रस उत्पन्न होते हैं।[५७]

'संगीत दामोदर' में पंचानन शिव के पाँच मुख से विभिन्न रस की उत्पत्ति बताई गई है। तद्अनुसार पूर्व मुख से रौद्र तथा अद्भुत, पश्चिम मुख से हास्य तथा श्रुंगार, उत्तर मुख से वीर, दक्षिण मुख से भयानक तथा बीभत्स और पंचम मुख से करुण तथा शांत रस का अविर्भाव हुआ है।[५८]

'समरांगण सूत्रधार' ग्रंथ में श्रुंगार, हास्य, करुण, रौद्र, प्रेयान्, भयानक, वीर, बीभत्स, अद्भुत, शांत तथा अन्य एक मिलकर एकादश - ११ रस कुल मिलाकर बताये गए हैं। इन रस की दृष्टि, अभिनय, इत्यादि लक्षणों की विस्तृत चर्चा इस ग्रंथ में की गई है।[५९]

'काव्यालंकार' (भामह/रुद्रट), 'कव्यादर्शनामना' (दण्डी), 'अलंकारसारसंग्रह' (उद्भट) इत्यादि ग्रंथों में काव्य की चमत्कृति को अलंकारमूलक मानकर अलंकार को प्राधान्य दिया गया है, पर भाव तथा रस का निषेध नहीं किया गया है।

'काव्यप्रकाश' (मम्मट) में नाट्य में आठ रस को मान्यता दी गई है तथा नवें रस के रूप में शांत रस का उल्लेख किया गया है।

'वामकेश्वरतंत्र' में कहा गया है, कि :

"काव्यशास्त्रे नव रसाः योगे चाष्टौ रसाः स्मृताः।
भक्तियोगे नव रसाः ऋतवो विषये स्मृताः।।

अष्टादश प्रकारा हि विद्यायाः परिकीर्तिताः।
पंचमाद्या रसा देवि पंचपंचाशतः स्मृताः।।”

अर्थात्, काव्यशास्त्र में नौ (९) रस (१. श्रुंगार, २. वीर, ३. करुण, ४. रौद्र, ५. हास्य, ६. भयानक, ७. बीभत्स, ८. अद्‌भुत, ९. शांत); योगशास्त्र में आठ (८) रस (१. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार,६. धारणा, ७. ध्यान, ८. समाधि); भक्तिशास्त्र में नौ (९) रस (१. मनन, २. कीर्तन, ३. ध्यान, ४. स्मरण, ५. पादसेवन, ६. अर्चन, ७. वंदन, ८. दास्य, ९. आत्मनिवेदन); विषयी जनों के छः (६) रस (१. पुष्प, २. गंध, ३. स्त्री, ४. शय्या, ५. वस्त्र, ६. अलंकार); विद्या प्रस्थान के अठारह (१८) रस (१. ४ वेद, २. ४ उपवेद, ३. ६ अंग, ४. मीमांसा, ५. न्याय, ६. धर्मशास्त्र, ७. पुराण मिलाकर); पेय चीज़ों के पाँच (५) रस (१. गौडी, २. माध्वी, ३. इक्षुनी, ४. फलनी, ५. धान्यवी - पाँच मद्य (मदिरा) के रस) मिलाकर कुल पचपन (५५) प्रकार के रस प्राप्य है। विदीत है, कि यहाँ ‘रस’ संज्ञा सिर्फ़ भाव से उजागर सौन्दर्यलक्षी घटक के लिए उपयुक्त नहीं होते हुए अन्य व्यावहारिक वस्तुओं के लिए भी प्रयुक्त की गई है।

‘औचित्य विचार चर्चा’ (क्षेमेन्द्र) में औचित्य को काव्य का जीवित अंग माना गया है। काव्य के घटकों का उचित विन्यास - उपयोग, उचित गुंफन ही उसे आस्वाद्य बनाते है। इन घटकों में पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, लिंग, क्रियापद, वचन, विशेषण, काल, देश, कुल, इत्यादि के साथ रस भी समाविष्ट है।

‘अनुमिति पक्ष’ (शंकुक, महिम भट्ट) में रस को काव्य की आत्मा माना गया है। उल्लेखनीय है, कि इसमें रस को अनुमेय माना गया है, व्यंग आदि नहीं।

‘रीतिपक्ष’ (वामन) रस को अत्याधिक महत्त्व देता है। रस-विशेष की पोषक विशिष्ट पद रचना को ‘रिती’ कहा गया है। उल्लेखनीय है, कि रिती भाषा संबंधी विधा है, भाषा में सीमित है।

'वक्रोक्ति पक्ष' (कुन्तक) ने वक्रोक्ति - स्वाभाविक भाषा से भिन्न भाषा को काव्य का जीवित अंग माना है तथा रस के पोषक अर्थ को महत्त्व दिया गया है। परंतु यह भी भाषा में सीमित है (हृदय के भाव उससे आगे भी जा सकते हैं)।

'रसपक्ष' में रस को व्यंग्य तथा काव्य की आत्मा माना गया है।[६०]

विभिन्न मतानुसार रस का विवरण करने के पश्चात रस संबंधी सामान्य (common) चर्चा प्रस्तुत है।

रसयुक्त संयोजन के अंग प्रकृतिजन्य नहीं, बल्कि कलाजन्य हैं, जो प्रकृति का अनुकरण न करते हुए उसका पुनः सर्जन करते हैं। रसयुक्त पदार्थ (या परिस्थिति) का अस्तित्त्व स्थूलरूप से अवास्तविक होकर भी सूक्ष्मरूप से वास्तविक है। वास्तव में उसका स्वतंत्र, निजी फलक है, जो (मानव-भावनाओं से संलग्न होने के बावजूद भी) व्यावहारिक जगत से बिलकुल भिन्न है। इसी कारणवश अत्याधिक चिंतकों ने रस को अलौकिक कहा है।

(संगीत जैसी) ललित कलाएँ अपने विशुद्ध स्वरुप में रजोगुण तथा तमोगुण का दमन कर सत्त्वगुण का उद्रेक करती है। सत्त्व के उद्रेक से उत्पादित अखंड, स्वयंप्रकाशित, आनंदस्वरुप चेतना 'रस' है। यह ब्रह्मानंद-सहोदर अनुभूति मानी गई है। विद्वानों का मंतव्य है, कि प्राक्तन, पुण्यशाली, सहृदय व्यक्ति स्वयं के अभिन्न आकार के अनुभव की तरह ही रस का अनुभव करते हैं तथा 'रज' एवं 'तम' से उत्पन्न व्यक्तिगत चिंता, क्रोध, शोक, इत्यादि से मुक्ति पाता है।[६१]

रसानुभूति को सौन्दर्य, आनंद तथा आत्मा की अनुभूति माना गया है। आत्मचैतन्य से आलोकित आनंदानुभूति माना गया है।

"रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।"

- 'तैत्तिरीय उपनिषद'।

अर्थात्, ब्रह्म रसरूप है, रसावस्था में प्राप्त आनंद ब्रह्मानंद के समान, अलौकिक और विलक्षण होता है। रस एक मिश्रित अनुभूति, प्रक्रिया है, जिसका आधार भाव - मनोवेग है, पर उसमें कल्पना एवं बुद्धि तत्त्व भी विद्यमान है।[६२]

विभिन्न क्षेत्रों में सर्वोत्कृष्ट तत्त्व के लिए 'रस' संज्ञा का प्रयोग हुआ है (मधुरतम तरल पदार्थ, प्राणदायिनी औषधि तथा आध्यात्मवादीओं के अनुसार स्वयं परमात्मा के लिए 'रस' संज्ञा प्रयुक्त हुई है), जो उसके सौन्दर्यशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में किये गए उपयोग के उच्च स्थान के प्रमाण माने जा सकते है। (रस के लिए) कहा गया है, कि "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।" अर्थात्, जहाँ वाणी विफल हो जाती है, तथा जिसे मन, बुद्धि (तर्क) से प्राप्त करना असंभव है (वह रस है)। वह ऐसा अनिर्वचनीय, अलौकिक, असाधारण, आनंद है; जिसका अनुभव किया जा सकता है, पर विवेचन नहीं। उसे न लेवल सुन्दर का, बल्कि सत्य और शिव - तीनों का व्यापार माना गया है - सद्, चित्, आनंद का रूप माना गया है। "रसो सारश्चमत्कारः।" अर्थात्, रस को चमत्कार का सार कहा गया है। वह अखंड, अनंत, रहस्यमयी अनुभूति है। भारतीय उपरांत पाश्चात्य विचारकों ने भी स्वीकार किया है, कि रसिक का कलाकार के मनोभावों से तादात्म्य रसनिर्मिति के लिए आवश्यक है। रसानुभूति को सामान्य लोकानुभव से भिन्न माना गया है तथा इसी कारण रस को अलौकिक माना गया है।[६३]

२.२ : रस का अपने अंगों के साथ विस्तृत वर्णन

२.२.१ : रस के मूलभूत घटक :-

- **स्थायीभाव :**

विभिन्न प्रकार के भावों के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है, जिनमें 'स्थायीभाव' को प्रमुख माना गया है। किसी भी रस-विशेष की उत्पत्ति के लिए जिम्मेवार मूलभूत भावनाजन्य मानसिक स्थिति को उसका 'स्थायीभाव' कहा गया है। स्थायीभाव रस की सातत्यपूर्ण एकरूपता का सब से महत्वपूर्ण अंग है। स्थायीभाव रस का केंद्रबिंदु तथा रसिक का मुख्य लक्ष्य है। इस मनोभावना अर्थात् स्थायीभाव के पीछे कोई परिस्थिति-विशेष होती है। उल्लेखनीय है, कि कला के माध्यम से कलाकार कोई प्रसंग-विशेष की प्रस्तुति देकर निश्चित भावना रसिक तक पहुँचाता है, तब उस भावना (स्थायीभाव) का मूल कारण वह प्रसंग नहीं है; क्योंकि कलाकार तथा प्रेक्षक वास्तविक रूप से उससे संलग्न नहीं है, वह तो काल्पनिक है। (वास्तव में स्थायीभाव मनुष्य के मन में पूर्व-स्थित होता है।) किसी प्रसंग-विशेष के अनुरूप उद्भवित प्रतिक्रिया अर्थात् मनोभावना या स्थायीभाव। इस मनोभावना को स्थायीभाव इसलिए कहा गया है, कि कला-प्रस्तुति, रसाभिव्यक्ति के दौरान उसका स्थायी, कायम होना अनिवार्य है। उसकी अनुपस्थिति में रस का अस्तित्त्व संभव नहीं।

"रतिहसिश्च शोकश्च क्रोधोत्सा हौ भयंतथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायीभावा प्रकीर्तिताः।।"

- 'नाट्यशास्त्र'।

अर्थात्, रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा तथा विस्मय - ये तत्त्वरूप स्थायीभाव होते हैं।

भरतमुनि ने आठ (८) रस के आठ (८) स्थायीभाव इस प्रकार बताए हैं :

	रस	स्थायीभाव
१)	श्रृंगार	रति
२)	हास्य	हास
३)	रौद्र	क्रोध
४)	करुण	शोक
५)	वीर	उत्साह
६)	अद्भुत	विस्मय
७)	बीभत्स	जुगुप्सा
८)	भयानक	भय

अर्थात्, ये स्थायीभाव अपने निश्चित रस-विशेष की उत्पत्ति के लिए अनुकूल हैं।[६४]

स्थायीभाव मनुष्य में जन्मजात होता है तथा अनुभव से संस्कार के रूप में सिंचित होता है। मानव मन में उनके स्थिर अस्तित्त्व के कारण भी उन्हें 'स्थायीभाव' कहा गया हो, यह संभव है। सामान्यतः वे सुशुप्त (सुप्तप्रायः) अवस्था में होते हैं, जो अनुकूल, उद्बोधक परिस्थिति, सामग्री मिलने से जाग्रत होते हैं। भरतमुनि का कथन है, कि सुशुप्त स्थायीभाव जाग्रत होकर रस में परिवर्तित होता है। (अर्थात्, जाग्रत रूप में स्थायीभाव रस है।)[६५]

अनुभव क्षणिक होने के कारण नष्ट हो जाते हैं, पर उनसे सिंचित कायम रहने वाले - स्थायी - संस्कार मानव मन का हिस्सा बन जाता है। ये संस्कार केवल इस जन्म के ही नहीं, अपितु पूर्वजन्म के भी हो सकते है। इन संस्कारों की गणना लगभग असंभव है, फिर भी भरतमुनि ने उन्हें उपरोक्त आठ (८) प्रकार में सीमित (या वर्गीकृत) करने का प्रयास किया। परवर्ती आचार्य अभिनवगुप्त ने अन्य एक स्थायीभाव निर्वेद (या सम) मानकर उस से नौवें रस शांत रस की उत्पत्ति मानी है।[६६]

"रसावास्थः परम्भावः स्थापिता प्रतिपद्यते।" अर्थात्, जो भाव रस की अवस्था को प्राप्त कर लेता है, वही 'स्थायीभाव' कहा जाता है।

"विरुद्धेरतिरुद्वैवां भावेऽर्विच्छिदयते न यः।
आत्मभावं नयत्याशु स स्थायी लवण्याकरः।।"

- 'रस गंगाधर'।

अर्थात्, खारा समुद्र जिस प्रकार तमाम पदार्थों को अपने में समाविष्ट कर लेता है, उतना ही नहीं, उन पदार्थों को लवणमय बना देता है; उसी प्रकार विरोधी तथा अविरोधी भाव जिन्हें विच्छित नहीं कर सकते, उतना ही नहीं, किन्तु विरोधी भावों को भी स्व-स्वरुप में परिणत कर लेता है, वही 'स्थायीभाव' है। चिरकाल से चित्त में जो विद्यमान है, विभावादि के साथ जो संबंध स्थापित करे और रस की अवस्था को प्राप्त हो, वह स्थायीभाव है। भरतमुनि के अनुसार,

"यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिहः।।"

अर्थात्, जैसे मनुष्यों में राजा, शिष्यों में गुरु, उसी प्रकार (रस के) भावों में 'स्थायीभाव' श्रेष्ठ समजा जाता है। अनेक समवेत रसों में जिस एक का स्वरुप मुख्य रहता है, वह स्थायीभाव है। सदैव अज्ञात दशा में हृदय या मन में सहज एवं स्वाभाविक रूप में बीज की तरह संयत रहते हैं (तथा अनुकूल दशा पाते ही जाग जाते हैं)। सर एस. एम. टैगोर के अनुसार, 'जो छीप नहीं सकता तथा विभाव, अनुभाव तथा संचारीभाव के माध्यम से (विकास की) पराकाष्ठा के रूप में राग (कला-रूप) में आकारित होता है, वह स्थायीभाव है।' स्थायीभाव अंतर्मन की एक विशेष अवस्था है, जो धीरे-धीरे विकसित होता है और दीर्घ काल तक हृदय में स्थिर (चीर स्थायी) रहता है। इसे रसास्वादन का प्रमुख माध्यम माना गया है।[६७]

उल्लेखनीय है, कि भरतमुनि ने अपने स्थायीभावों में प्रत्येक स्थायी मनोस्थिति (या मनोभावना) की गणना नहीं की है, क्योंकि वे सभी स्वतंत्र (अपने आप में विकसित हो सके) तथा सौन्दर्यात्मक अनुभव के लिए आवश्यक नहीं हैं। उनका स्थायीभाव को स्पष्ट दर्शाने का तात्पर्य उन्हें व्याभिचारीभावों से भिन्न बताना हो सकता है। हालाँकि, उनके द्वारा दर्शाये गए स्थायीभावों में 'सम/निर्वेद' को स्थान नहीं होने के बावजूद भी उसे परवर्ती आचार्यों द्वारा स्थायीभाव ही माना गया, व्याभिचारीभाव नहीं।[६८]

स्थायीभाव चरमसीमा तक पहुँचकर रसानुभूति प्रदान कर सकता है। बीजरुपी स्थित यह भाव बाहरी अनुभव से (जाग्रत होकर) प्रकट होता है। कुछ आधुनिक विद्वानों ने नौ (९) प्रचलित स्थायीभाव के उपरांत अन्य दो वत्सलता तथा इष्टदेवानुराग मानते हुए उनसे अनुक्रम से वात्सल्य तथा भक्ति (या मधुर) रस की निष्पत्ति बताई है।[६९]

कलाकार को कृति के निर्माण के लिए रस तथा उसका स्थायीभाव निश्चित करना चाहिए। रसिक को भी अपने अभ्यास तथा अनुभव के आधार पर अपने हृदय में वासना के रूप में स्थित स्थायीभाव के अनुसार कृति का चयन करके रसास्वाद लेना चाहिए। विभाव,अनुभाव तथा व्याभिचारीभाव से परिष्कृत होकर अंतःकरण स्थित स्थायीभाव रस-रूप धारण करता है। उनसे स्थायीभाव को पोषण मिलता है। उसका स्थान माला के सूत्र की तरह है। 'रसयति इति रसः' - जो आस्वाद करवाता है, वह रस है; 'रस्यते इति रसः' - जिसका आस्वाद किया जाए, वह रस है तथा 'रसनं रसः' - आस्वाद की क्रिया (चवर्णा) रस है - को ध्यान में लिया जाए, तो स्थायीभाव को ही रस मान लिया जा सकता है। भरतमुनि के रससूत्र में "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पतिः" कहा गया है, जिसका अर्थ है - (स्थायीभाव के साथ) विभाव, अनुभाव तथा व्याभिचारीभाव के संयोग से रस-

निष्पत्ति होती है। इस उक्ति में स्थायीभाव का उल्लेख नहीं है, पर उसका अस्तित्त्व मान लिया गया है।[७०]

स्थायीभाव का भाव-कार्य की सभी अवस्थाओं में कायम बना रहना आवश्यक है। उसकी उपस्थिति से ही अन्य भावों की उत्पत्ति संभव है।

स्थायीभाव विभाव, अनुभाव तथा व्याभिचारी (या संचारी) भाव के माध्यम से व्यक्त होता है।

- **विभाव :**

स्थायीभाव के अस्तित्त्व के लिए कारणरूप परिस्थिति (या पदार्थ) को 'विभाव' कहा गया है। कला के माध्यम से प्रस्तुत परिस्थिति विभाव है। इससे वही भावना (स्थायीभाव) उत्पन्न होती है, जो वास्तविक जीवन में ऐसी परिस्थिति से उत्पन्न होती हो। यदि कोई बालक लकड़ी में घोड़े की कल्पना करके उससे घोडेस्वारी खेलता है, तो उसके मनोभाव तथा चेष्टाएँ वास्तविक घोड़े पर सवारी करने जैसे ही होते हैं (क्योंकि यहाँ कल्पना वास्तविक घोड़े की ही की गई है)। इसी प्रकार कला-प्रस्तुति में किसी प्रसंग-विशेष की कल्पना करके उससे वास्तविक प्रसंग का अनुभव करवाने का प्रयास किया जाता है। यह (काल्पनिक तथा वास्तविक) प्रसंग विभाव है, जो स्थायीभाव की उत्पत्ति का कारण है।[७१]

विभाव वह भाव (या घटक) है, जो स्थायीभाव को उद्‌बुद्ध तथा उद्दीप्त करता है।[७२] स्पष्ट है, कि स्थायीभाव की उत्पत्ति का कारण विभाव है।

भाव-उत्पत्ति के लिए दो पक्ष आवश्यक हैं - जिसके हृदय में भाव उत्पन्न और संचारित होता है, वह आश्रय तथा जिसके प्रति भाव प्रकट होता है, वह विभाव। भरतमुनि ने कहा है, कि

"बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वांगगाभिनयाश्रयाः।
अनेन अस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः।।"

- 'नाट्यशास्त्र'।

अर्थात्, जो वाणी, अंग तथा अभिनय के द्वारा अनेक अर्थों का बोध कराते हैं, वे विभाव कहलाते हैं। जिन साधनों तथा कारकों के द्वारा भाव का बोध होता है, विभाव कहलाते हैं।

कलाकृति में प्रवेश करने वाले, स्थायीभाव के कारण विभाव कहे जाते हैं। वे भावों के उद्बोधक हैं, उनको रसास्वादन में परिवर्तित करने वाले हैं।[७३]

वास्तविक जीवन में निश्चित भाव-विशेष के लिए कारणभूत, जिम्मेवार प्रसंग का कृति में निरूपण होता है, तब उसे 'विभाव' कहा जाता है। एक मतानुसार यहाँ विभाव (कृति का प्रसंग) कारण नहीं, बल्कि सिर्फ़ माध्यम है, जो कलाकार में स्थायीभाव उत्पन्न करता है (क्योंकि कारण तो वास्तविक प्रसंग है)। इतना ही नहीं, रसिक के मनोभाव का कारण कलाकार (तथा कृति) को मानते हुए उनकी ओर विभाव का निर्देश किया गया है।[७४]

विभाव अंतरमन की सुषुप्त भावनाओं को विशेष रूप से प्रवर्तित करके रसोत्पत्ति में सहायक बनता है।

"गुरुर्मित्र सखा स्निगधः संबंधी बन्धुरेव वा।
आवेद्यते हि यः प्राप्तः स विभाव इति स्मृतः।।"

- 'नाट्यशास्त्र'।

अर्थात्, गुरुजन, मित्र, सखा, संबंधी, बांधव, इत्यादि स्वजन के विषय में जानकारी देना 'विभाव' कहा जाता है।[७५]

विभाव कलाकार के भाव रसिक समक्ष उद्बोधित करने का साधन, आधार है। भरतनाट्यशास्त्र में कहा गया है, कि "विभाव्यन्तेडनेन वागङ्गसत्त्वाभिनया इत्यतो विभावः।" अर्थात्, जिसके द्वारा वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनय संभव है, वह विभाव है। विश्वनाथ के अनुसार, 'जिसके माध्यम से सामाजिक के हृदय में स्थित भाव रसास्वादरूपी अंकुर के रूप में प्रकट करने योग्य बने, वह 'विभाव' है।[७६]

विभाव साधन - प्रतीक रूप है, जिसकी सहायता से कलाकार में स्थायीभाव जागृत होता है, तथा रसिक का उससे तादात्म्य होने पर रसिक में भी स्थायीभाव का उदय होता है।

स्थायीभाव को चित्रित करने के लिए विभाव को आवश्यक तत्त्व माना गया है।

विभाव के दो प्रकार माने गए हैं : १) आलंबन विभाव तथा २) उद्दीपन विभाव।

आलंबन विभाव : जो स्थायीभाव को जागृत करने का मूलभूत कारण है, जिस पर स्थायीभाव की उत्पत्ति का मुख्य आधार है, उसे 'आलंबन विभाव' कहा गया है। जिसके प्रति, या जिसकी वजह से स्थायीभाव उत्पन्न होता हो, उसे आलंबन विभाव माना गया है। वे स्थायीभावों को उद्‌बुद्ध करने का कारण हैं। आलंबन विभाव पर स्थायीभाव पूर्णतः आलंबित होते हैं, वे स्थायीभाव के लिए पूर्णतः जिम्मेवार, उनके अस्तित्त्व के आधारस्तंभ हैं। वह पात्र, जो भाव प्रस्तुत करने का विषय हो, उसकी गणना आलंबन विभाव में की जाती है। जिसके आलंबन से रस की प्रवृत्ति होती है, वह आलंबन विभाव है। आलंबन विभाव महद रूप से व्यक्ति, प्राणी या पदार्थ होता है। नायक, नायिका, प्रतिनायक, देवी-देवता, इत्यादि आलंबन विभाव हैं।

उद्दीपन विभाव : जो स्थायीभाव को (जागृत करने में या उसे) विशेष प्रज्वलित करने में सहायकारी है, उसे 'उद्दीपन विभाव' कहा गया है। जो (वातावरण या सामग्री) जागृत स्थायीभाव में वृद्धि करें, उसे पुष्ट करें, उसे उद्दीपन विभाव माना गया है। वे आलंबन विभावों के द्वारा उद्‌बुद्ध स्थायीभावों को उद्दीप्त करने के कारण हैं। उद्दीपन विभाव से स्थायीभाव उद्दीप्त होकर विशेषत्त्व प्राप्त करते हैं, वे केन्द्रीय स्थायीभाव के प्रभाव को बढ़ाने वाले उत्तेजक हैं। वह कार्य या चेष्टा, जो स्थायीभाव को उत्तेजित करते हो, उसकी गणना उद्दीपन विभाव में की जाती है। जिससे रस को

उद्दीपन मिलता है, वह उद्दीपन विभाव है। उद्दीपन विभाव महद रूप से चेष्टा, क्रिया, परिस्थिति या पदार्थ होता है। उसके दो प्रकार हैं : १. जो आलंबन विभाव (की चेष्टा, क्रिया के रूप में उस) का हिस्सा हो तथा २. जो उससे भिन्न हो। विभिन्न क्रिया, स्थल, काल, गुण, श्रृंगार, वातावरण, वातावरणीय तत्त्व, इत्यादि उद्दीपन विभाव हैं।[७७]

- **अनुभाव :**

स्थायीभाव की प्रदीप्ति के साथ होने वाले परिवर्तनों को 'अनुभाव' कहा गया है। स्थायीभाव के साथ आने वाले शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तनों के उपरांत प्रस्तुत किये जाने वाले आंगिक, वाचिक तथा सात्त्विक अभिनय को भी अनुभाव कहा जाता है। स्थायीभाव के अनुकरणशील होने से इन्हें 'अनुभाव' संज्ञा दी गई है।[७८]

अनुभाव वे चेष्टाएँ या तो भाव-भंगिमाएँ हैं, जो स्थायीभाव (या वासना) के उद्बुद्ध तथा उद्दीप्त होने के प्रभाव से उत्पन्न होती हैं।[७९]

"अनुभावयति इति अनुभावः।" या अमरकोश के अनुसार "अनुभावो भावबोधकः।" - अर्थात्, जो स्थायीभावों का अनुभव करवाए, वह अनुभाव है। वे विभावादि कारणों से उत्पन्न होकर उसका प्रकाशन करते हैं। स्थायीभावों के उदय पश्चात के यह विकार (परिवर्तन) विभावों की प्रत्यक्षानुभूति करवाते हैं। वे सभी परिवर्तन, जो किसी स्थायीभाव की जागृति के कारण उत्पन्न होते हैं तथा जिनको व्यावहारिक लोक में किसी स्थायीभाव का कार्य माना जाता है, उन्हें 'अनुभाव' कहा जाता है। (कुछ विद्वानों ने अनुभावों को विभाव के अंतर्गत माना है। उल्लेखनीय है, कि केवल आश्रय की चेष्टाएँ अनुभाव हैं, आलंबन की नहीं।)

भरतमुनि के कथनानुसार,

"वागगांभिनयेनेह यतस्वर्थो अनु भाव्यते।
शाखाङ्गोपाङ्ग संयुक्तस्त्वनु भावास्ततः स्मृतः।।"

- 'नाट्यशास्त्र'।

अर्थात्, क्योंकि यह वाणी तथा अंगों के अभिनय द्वारा अर्थ की अनुभूति संपन्न करता है, अतः शाखा अंगोपांग से युक्त इसे 'अनुभाव' कहा जाता है।[८०]

अनुभाव वास्तविक जीवन में भावनाओं के साथ उनके प्रभाव से होने वाली क्रियाओं का प्रतिनिधित्त्व करते हैं। वे पात्र या कृति के स्थायीभाव की अभिव्यक्ति के माध्यम बनकर रसिक को उसका अनुभव करवाते हैं। अनुभाव को आंतरिक (स्थायी)भाव रूपी कारण का कार्य कहा गया है।

'भरतनाट्यशास्त्र' के अनुसार, "अनुभावयति वागङ्गसत्त्वकृतम-भिनयमिति अनुभावः।" अर्थात्, वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों का अनुभव करवाए, वह 'अनुभाव' है। अनुभाव को भी रसनिष्पत्ति के कारणरूप माना जाता है। "अनुभूयन्ते इति अनुभावाः।" अर्थात्, (रसिक द्वारा) जिसका अनुभव किया जाए, वह अनुभाव है।[८१]

अनुभाव आलेखित (स्थायी) भाव के प्रति भौतिक क्रियाओं द्वारा संकेत करते हैं। अनुभाव दो प्रकार के हैं : १) ऐच्छिक अनुभाव तथा २) अनैच्छिक अनुभाव।

ऐच्छिक अनुभाव : जो अनुभाव जाग्रतरूप से, हेतुपूर्वक किये जाते हैं, उन्हें 'ऐच्छिक अनुभाव' कहा गया है। वे प्रयत्नपूर्वक किये जाते हैं। वे सर्वथा स्वयं-स्फूरित नहीं होने से उन्हें स्थायीभाव से बाहरी रूप से संलग्न तो माने गए, परंतु उनके मूल हृदयस्थित नहीं माने गए। इसी कारण उन्हें (स्थायी) भाव की अचूक, अनिवार्य निशानी नहीं माना गया। क्योंकि वे सिर्फ़ अपने-आप प्रकट नहीं होते, प्रयत्नपूर्वक भी उन्हें व्यक्त किया जाता है; भरतमुनि ने कहा है, कि उनकी अभिव्यक्ति करते समय वास्तविक जीवन में उनके स्थान, उनकी स्थिति, उनके अस्तित्त्व के प्रति ध्यान देकर उसे वफादार रहना चाहिए।

इन्हें 'कायिक अनुभाव' भी कहा गया है। तात्पर्य यह नहीं है, कि वे स्वतः प्रकट नहीं हैं, पर साथ-साथ आश्रय का उन पर (कुछ प्रमाण में) वश भी होता है। उन्हें आश्रय के आधीन माना गया है। पलक या नेत्र हिलाना, (क्रोध से) नेत्र का लाल

हो जाना, होंठ फड़कना, भौहें टेढ़ी करना, डाँटना, झपटना, आँसू बहाना, सिर पीटना, बाल नोंचना, भूमि पर लोटना, मुस्कुराना, खिलखिलाना, अट्टाहास करना, उत्साह में अंगों का फड़कना, आश्चर्य में भौचक्का रह जाना, कनखियों से देखना, इत्यादि इसके अंतर्गत आते हैं।

अनैच्छिक अनुभाव : जो अनुभाव अजग्रतरूप से, अपने आप हो जाते हैं, उन्हें 'अनैच्छिक अनुभाव' कहा गया है। उन्हें प्रयत्नपूर्वक करना नहीं होता। वे सर्वथा स्वयं-स्फूरित होने से उनके मूल हृदयस्थित माने गए हैं। उन्हें (स्थायी) भाव की अचूक, अनिवार्य निशानी माना गया है। वे आंतरिक भावनाओं का स्वयंभू प्रतिबिंब हैं।

इन्हें 'सात्त्विक अनुभाव' कहा गया है। इन पर आश्रय का वश नहीं होता। उन्हें आश्रय के आधीन नहीं माना जा सकता।

"स्तंभः स्वेदोऽथ रोमान्चः स्वर भंगोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः।।"

- 'नाट्यशास्त्र'।

अर्थात्, स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कंप, वैवर्ण्य, प्रलय तथा अश्रु - ये आठ सात्त्विक अनुभाव माने गए हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :

	सात्त्विक अनुभाव	वर्णन
१)	स्तब्ध/स्तम्भ	- प्रसन्नता या व्यथा से अंगों की गति रुक जाना।
२)	स्वेद	- आश्चर्य या भय से शरीर में पसीना आना।
३)	रोमांच	- हर्ष या उत्तेजना से रोम खड़े हो जाना।
४)	स्वरभंग/वैस्वर्य	- आवाज़ फटना या स्वाभाविकरूप से वचन न निकाल पाना।
५)	कंप/वेपथु	- क्रोध या भय से शरीर का कांपना।
६)	वैवर्ण्य	- डर या शोक से चेहरा निस्तेज हो जाना।

७) अश्रु - दुःख या भय से आँखों से अश्रुओं का निकलना।

८) प्रलय - चेतना, सुध-बुध खोना; शून्यता।

ये क्रियाएँ आश्रय से अपने आप ही हो जाती हैं। आश्रय ना तो उनके लिए प्रयत्नशील होता है, ना ही उन्हें रोक पाता है।[८२]

विद्वानों के अनुसार 'सत्त्व' मन का धर्म है, जो मन एकाग्र होने पर उत्पन्न होता है। उपरोक्त अनुभावों की उत्पत्ति सत्त्व से होती है, ऐसा मानकर उन्हें 'सात्त्विक अनुभाव' कहा गया। अन्य मतानुसार 'सत्त्व' अर्थात् प्राणी शरीर। अतः शरीर से उत्पन्न होने वाला, अर्थात् 'सात्त्विक अनुभाव'। 'रसतरंगिणी'कार भानुदत्त ने भाव के दो प्रकार 'आंतर' तथा 'शारीर' बताए हैं। स्थायीभाव तथा व्याभिचारीभाव को आंतर तथा सात्त्विक (अनु) भाव को शारीर बताया है। उन्होंने उपरोक्त आठ सात्त्विक अनुभावों में अन्य एक 'जृंभा' - जम्हाई आना भी समाविष्ट किया है।[८३]

कुछ विद्वानों ने अनुभावों को तीन श्रेणीओं में विभाजित किया है : १) कायिक, २) मानसिक तथा ३) सात्त्विक। उन्होंने कायिक को 'यत्नज' - जो प्रयत्नपूर्वक किये जाएँ तथा मानसिक एवं सात्त्विक को 'अयत्नज' - जिसके पीछे कोई प्रयत्न नहीं हो - ऐसे बताए हैं। कायिक के अंतर्गत शारीरिक क्रियाएँ, मानसिक के अंतर्गत मानसिक अनुभाव तथा सात्त्विक के अंतर्गत उपरोक्त आठ (८) सात्त्विक अनुभावों को स्थान दिया गया है।[८४]

- **व्याभिचारीभाव :**

स्थायीभाव के अनुरूप, उसके साथ आते-जाते रहने वाले क्षणिक भावों को 'व्याभिचारीभाव' कहा गया है। कला-प्रस्तुति के दौरान परिस्थिति या प्रसंग के अनुरूप क्षणिक भावनाएँ आती-जाती रहती हैं, जो स्थायीभाव से संलग्न होती हैं; वही व्याभिचारीभाव हैं। वे स्थायीभाव को प्रत्यक्ष करने में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। स्थायीभाव के विकास के साथ अनुकरणशील चंचल भाव उत्पन्न होकर अनुरूप प्रतिकियाएँ देते हैं। व्याभिचारीभाव को 'संचारीभाव' भी कहा जाता है।[८५]

स्थायीभाव के साथ प्रकट होने वाले ये भाव अस्थायी होते हैं; जाग्रत होते हैं - विलीन होते हैं। व्याभिचारीभाव तैंतीस (३३) प्रकार के हैं।

स्थायीभाव के उद्बोध के समय अनेकों की संख्या में प्रकट होते हैं, इस व्याभिचार के कारण इन्हें 'व्याभिचारीभाव' कहा गया है।[८६]

"विविधा भिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्याभिचारिणः।"

\- 'नाट्यशास्त्र'।

अर्थात्, (स्थायीभाव की तरह) ये रस की सिद्धि तक स्थिर नहीं रहते। तात्पर्य यह है, कि ये भाव अवस्थाएँ विशेष में उत्पन्न होते हैं और अपना प्रयोजन पूर्ण हो जाने पर स्थायीभाव को उचित सहायता देकर लुप्त हो जाते हैं।[८७]

स्थायीभाव दीर्घ काल तक हृदय में रहता है, जबकि व्याभिचारी (या संचारी) भाव विद्युत की भाँती यकायक प्रकाशित होकर कुछ ही क्षणों में लुप्त हो जाते हैं। एक ही स्थायीभाव के बीच-बीच में परिस्थिति वश अनेक भावों का संचार होता रहता है। संचारी या व्याभिचारीभाव स्थायीभाव के विकास में सहायक होते हैं, परंतु इसके लिए अनुकूल संचारी या व्याभिचारी की आयोजना करना आवश्यक है। यदि ये

आयोजना प्रतिकूल रूप में हो, तो वे स्थायीभाव से रस निर्मिति में बाधक सिद्ध होते हैं।

संचारी या व्याभिचारीभाव ऐसे क्षणिक भाव हैं, जो स्थायीभाव से भिन्न होने के बावजूद भी उसके विकास में एहम भूमिका निभाते हैं। स्थायीभाव के प्रभाव में अभिवृद्धि करते हैं, रसिक को उससे रूबरू करवाते हैं। ये भाव स्थायीभाव का सहचर करते हैं - उनके साथ रहते हैं।

संचारीभाव वे हैं, जिनका जल-तरंगों की तरह संचार होता है - उमड़कर विलीन हो जाते हैं। भरतमुनि ने लिखा है, कि :

"निर्वेदग्लानिशङ्कास्तथासूया मदः श्रमः।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिधृतिः।।
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जड़ता तथा।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च।।
सुप्तं विबोधोऽर्मषाप्यवहित्थमथोग्रता।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च।।
त्रासै व वितर्क विज्ञेया व्यभिचारिणः।
त्रयस्त्रिदशमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः।।

- 'नाट्यशास्त्र'।

अर्थात्, निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस, दीनता, चिंता, मोह, स्मृति, धृति, लज्जा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, उत्सुकता, निद्रा, अपस्मार, सुषुप्तता, विबोध, अमर्ष, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मृत्यु, त्रास, वितर्क - ये तैंतीस (३३) संचारी - व्याभिचारीभाव हैं।[८८]

इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :

संचारी/व्याभिचारी भाव	वर्णन
०१) निर्वेद	- तत्त्वज्ञान, आपत्ति या इर्ष्या इत्यादि से देहादि पर तिरस्कार।
०२) ग्लानि	- परिश्रम, भूक, इत्यादि के कारण असामर्थ्य।
०३) शंका	- शक, संदेह।
०४) असूया	- अन्य का उत्कर्ष सह्य न होना, इर्ष्या।
०५) मद	- मद्यपान इत्यादि से होने वाला विकार, नशा।
०६) श्रम	- परिश्रम।
०७) आलस	- आलस करना।
०८) दीनता	- निस्तेजपन।
०९) चिंता	- विचार, ध्यान या चिंतित होना।
१०) मोह	- बेभान होना, वश में आना।
११) स्मृति	- स्मरण।
१२) धृति	- संतोष, संतृप्ति।
१३) लज्जा/व्रीडा	- शर्म, संकोच।
१४) चपलता	- चपलता, चंचलता, अस्थिरता।
१५) हर्ष	- आनंद, खुशी।
१६) आवेग	- डर के मारे भगा-दौड़ी करना, संभ्रम।
१७) जड़ता	- इष्ट या अनिष्ट देखकर या सुनकर किंकर्तव्यविमूढ़ होना।
१८) गर्व	- घमंड, मगरुरी।
१९) विषाद	- हिम्मत हारना, खेद।

२०) उत्सुकता/औत्सुक्य - अधीर होना, आतुर होना।

२१) निद्रा/सुप्त - निद्राधीन अवस्था।

२२) अपस्मार - भावनाओं पर नियंत्रण न रख पाना।

२३) सुषुप्तता - निद्रा से होने वाली सुस्ती, स्वप्न।

२४) विबोध - निद्रा से जागृत होना।

२५) अमर्ष - अपमान इत्यादि के कारण कर्ता का नुकसान करने का निश्चय, बैरभाव।

२६) अवहित्थ - शर्म इत्यादि के कारण विकार को छिपाना।

२७) उग्रता - क्रूरता।

२८) मति - शास्त्र इत्यादि की सहाय से यथार्थ ज्ञान होना।

२९) व्याधि - व्याधि-उपाधि, तकलीफ।

३०) उन्माद - पागलपन, अति उत्साह।

३१) मृत्यु - मृत्युवत् भावना, मृत्यु की तैयारी।

३२) त्रास - भय या त्राहित होना।

३३) वितर्क - विचार।

"विशेषेण अभियरन्ति इति व्यभिचारिणः।" अर्थात्, जो सभी रस में फिरते रहते हैं, वे 'व्याभिचारी' कहलाते हैं। 'दशरूपक'कार धनंजय के अनुसार, 'जिस प्रकार समुद्र कायम होने के बावजूद उसमें तरंग प्रकट होते हैं और लुप्त होते हैं, उसी प्रकार स्थायीभाव कायम होता है और उसमें संचारी/व्याभिचारीभाव प्रकट-लुप्त होते रहते हैं।' 'रसतरंगिणी'कार के अनुसार, 'जो अनेक रस में आते हैं, या अनेक रस के व्याप्य हैं, उन्हें व्याभिचारीभाव कहा जाता है।' सिद्धहेमचंद्र इत्यादि विद्वानों ने

उपरोक्त तैंतीस (३३) व्याभिचारीभावों के अतिरिक्त भी कुछ अन्य व्याभिचारीभाव माने हैं, परंतु उनका अंतर्भाव उपरोक्त व्याभिचारीभावों में से एक या दूसरे में हो सकता है। अतः अत्याधिक विद्वानों द्वारा इन तैंतीस (३३) व्याभिचारीभावों को ही मान्यता दी गई है। एक स्थायीभाव अन्य स्थायीभाव में व्याभिचारीभाव हो सकता है। उदाहरण स्वरुप, हास स्थायीभाव है, पर यदि वह श्रुंगार-रसप्रधान कृति में रति के साथ क्षणिक रूप से आए, तो वह व्याभिचारीभाव है।[८९]

उल्लेखनीय है, कि भरतमुनि ने निर्वेद को स्थायीभाव नहीं माना, सिर्फ़ व्याभिचारीभाव माना है। परंतु प्रतिगामी विद्वान अभिनवगुप्त इत्यादि ने उसे स्थायीभाव मानते हुए उससे शांत रस की निष्पत्ति बताई है।

२.२.२. : रस के देवता, वर्ण, छबि-चित्र, इत्यादि का वर्णन :-

- **देवता :**

भारतीय संस्कृति में अक्सर हरेक उत्कृष्ट चीज़ को इश्वर या ईश्वरीय तत्त्व से संलग्न मानने की परंपरा रही है। भरतमुनि ने भी अपने प्रयेक रस के निश्चित अधिष्ठाता देवता माने हैं ।

भरतमुनि ने अपने आठ (८) रस के देवताओं का वर्णन इस प्रकार किया है :

"श्रुंगारो विष्णुदैवत्यो हास्यः प्रमथदैवतः।
रौद्रो रुद्राधिदैवत्यः करुणो यमदैवतः। ।
बीभत्सस्य महाकालः कालदेवो भयानकः।
वीरो महेन्द्रदेवः स्यादद्भुतो ब्रह्मदैवतः। ।

- 'नाट्यशास्त्र'।

अर्थात, श्रुंगार के देवता विष्णु, हास्य के प्रमथ (शिव के गण), रौद्र के रूद्र, करुण के यम, बीभत्स के महाकाल, भयानक के काल, वीर के महेन्द्र तथा अद्भुत के ब्रह्मा हैं।[१०]

अन्य रसाचार्यों ने भी रस के अधिपति के रूप में देवताओं की कल्पना की है। परंतु उनके मत में भरतमुनि के मत से कुछ भिन्नता है। इन मतों के अनुसार श्रुंगार के देवता कामदेव या कन्हाई (कृष्ण), हास्य के वामन, रौद्र के महादेव (शिव), करुण के यम या जलदेव, बीभत्स के महाकाल, भयानक के काल, वीर के इन्द्र तथा अद्भुत के वीर्य या कामदेव माने गए हैं। शांत के विवरण में हरि (विष्णु) को उसके देवता बताया गया है।

उपरोक्त मत-मतांतरों को अधिक स्पष्टरूप से दर्शाने के लिए रस तथा उनके अधिष्ठाता देवता की तालिका (कोष्ठक) प्रस्तुत है :[११]

क्रम	रस	देवता		
		भरत मत	अन्य मत (१)	अन्य मत (२)
१	श्रृंगार	विष्णु	कामदेव	कन्हाई (कृष्ण)
२	हास्य	प्रमथ (शिवगण)	वामन	वामन
३	रौद्र	रूद्र	महादेव (शिव)	महादेव (शिव)
४	करुण	यम	यम	जलदेव
५	बीभत्स	महाकाल	महाकाल	महाकाल
६	भयानक	काल	काल	काल
७	वीर	महेन्द्र	इन्द्र	इन्द्र
८	अद्‌भुत	ब्रह्मा (ब्रह्मदेव)	वीर्य	कामदेव
९	शांत	---	हरि (विष्णु)	हरि (विष्णु)

- **वर्ण :**

भरतमुनि ने हरेक रस के निश्चित वर्ण - रंग - की कल्पना की है। उनके अनुसार हरेक रस का निश्चित, विशेष वर्ण है। उसके मुताबिक :

"श्यामो भवति श्रुंगारः सितो हास्यः प्रकीर्तितः।

कपोतः वरुणश्चैव रक्तो रौद्रः प्रकीर्तितः।।

गौरो वीरस्तु विज्ञेयः कृष्णश्चैव भयानकः।

नीलवर्णस्तु बीभत्सः पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः। ।"

\- 'नाट्यशास्त्र'।

अर्थात्, श्रुंगार रस का वर्ण श्याम, हास्य का सित (श्वेत), करुण का कपोत, रौद्र का रक्त, वीर का गौर, भयानक का कृष्ण (काला), बीभत्स का नीला तथा अद्भुत का पीत (पीला) है।[९२]

अन्य रसाचार्यों ने भी हरेक रस का निश्चित वर्ण माना है। उन्होंने भी प्रत्येक रस के वर्ण बताए हैं। परंतु उनके मत में भरतमुनि से कुछ भिन्नता है। इन मतों के अनुसार श्रुंगार रस का वर्ण श्याम, हास्य का सुश्वेत या सित, करुण का कपोत या धूंसर (धुम्रसेर जैसा धुंधला), रौद्र का अरुण या लाल, वीर का हेमवर्ण, भयानक का असितं (अश्वेत) या काला, बीभत्स का नीला या हरा (लीला), अद्भुत का प्रभावर्ण या पीत (पीला) तथा शांत का चंद्रकला या श्वेत माना गया है।

विदीत है, कि भरतमुनि के रस-वर्ण संबंधी मत तथा अन्य विद्वानों के मतों में अधिक तफ़ावत नहीं है। जो फर्क हैं, वे प्रायः एक ही रंग (वर्ण) की भिन्न-भिन्न छाया (shades) हैं। कुछ मतभेद में ऐसा भी प्रतीत होता है, कि विभिन्न विद्वानों द्वारा एक ही रंग के भिन्न-भिन्न नाम प्रयुक्त किये गए हैं ।

उपरोक्त मत-मतांतरों को अधिक स्पष्टरूप से दर्शाने के लिए रस तथा उनके वर्ण की तालिका (कोष्ठक) प्रस्तुत है :[१३]

क्रम	रस	वर्ण		
		भरत मत	अन्य मत (१)	अन्य मत (२)
१	श्रृंगार	श्याम	श्याम	श्याम
२	हास्य	सित (श्वेत)	सुश्वेत	सित (श्वेत)
३	रौद्र	रक्त	अरुण	लाल
४	करुण	कपोत	कपोत	धूंसर (धुंधला)
५	बीभत्स	नीला	नीला	हरा (लीला)
६	भयानक	कृष्ण (काला)	असितं (अश्वेत)	काला
७	वीर	गौर	हेमवर्ण	हेमवर्ण
८	अद्भुत	पीत (पीला)	प्रभावर्ण	पीत (पीला)
९	शांत	---	चंद्रकला	श्वेत

- **छबि-चित्र :**

SHRINAGARA
HASYA
KARUNA
RAUDRA
VEERA
BHAYANAKA
VIBHATSA
ADBHUTA
SHANTA

९४

प्रस्तुत छबि-चित्र नर्तन विधा से लिया गया है, गायन-वादन में इस तरह रस का दृश्य रूप संभव नहीं। परंतु रस के परिचय तथा लाक्षणिकता के स्पष्ट निरूपण हेतु यह उपयुक्त एवं प्रस्तुत है।

२.२.३ : रस के घटक तत्त्वों का परस्पर संबंध :-

रसोत्पत्ति का मूल भावना या भाव है। संस्कृत भाषा में 'भाव' संज्ञा के दो अर्थ हैं : १) वह, जो किसी वस्तु के होने का कारण होता है (भावन) तथा वह, जो प्रभावित करता है (वासन)। विदीत है, कि रस के परिप्रेक्ष्य में ये दोनों अर्थ प्रस्तुत हैं।[९५]

भाव रस का कारण है, तथा रसिक को प्रभावित करता है। भरतमुनि ने आठ (८) स्थायीभाव, आठ (८) सात्त्विक अनुभाव तथा तैंतीस (३३) व्याभिचारीभाव मिलाके भावों की कुल संख्या उनचास (४९) बताई है। उल्लेखनीय है, कि परवर्ती विद्वानों द्वारा बताये गए नौवें शांत रस के स्थायीभाव 'सम' के साथ यह संख्या पचास (५०) होती है। इन निश्चित (जिनका नाम के साथ उल्लेख किया गया है) भावों के उपरांत सादे अनुभाव तथा विभाव से भाव-संख्या इससे अधिक हो जाती है। ये भाव परस्पर संलग्न तथा अवलंबी हैं। इनके समन्वय से रस-निष्पत्ति संभव है।

एक महत्त्वपूर्ण बात यह है, कि भावों का स्वरुप (या तो स्थान) परिवर्तनशील है। एक रस का स्थायीभाव अन्य रस में व्याभिचारी हो सकता है, विभाव या अनुभाव भी हो सकता है।

विद्वानों ने भाव तथा रस के मध्य बीज तथा अंकुर जैसा, जनक-जन्य संबंध माना है। रस को जन्य तथा भाव को उसका जनक माना गया है। रसाचार्यों ने रसों में अरस-परस शत्रुता (विरोधीपन) या मित्रता (समरूपता) मानी है। भिन्न-भिन्न रस के मेल से भिन्न-भिन्न वृत्ति (परिस्थिति/स्थिति) का उद्भव बताया है।

'भारती सात्त्वती चैव कैशिक्यारभटी तथा।'

- 'नाट्यशास्त्र'।

अर्थात्, भारती, सात्त्वती, कौशिकी तथा आरभटी - ये चार वृत्तियाँ हैं। विद्वानों के अनुसार बीभत्स, रौद्र तथा भयानक रस के संयोग से आरभटी वृत्ति प्रकट होती है। अद्भुत, वीर तथा रौद्र रस के संयोग से सात्वती वृत्ति प्रकट होती है।

भाव के संदर्भ में भरतमुनि के कथन से उसकी महत्ता स्पष्ट होती है :

"नानाभिनयसंबंध्धान्भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्योक्तृभिः।।"

- 'नाट्यशास्त्र'।

अर्थात्, विभिन्न अभिनयों के साथ जुड़े हुए रस का आस्वादन हो सकता है। नाट्यप्रयोग करने वाले को इसे भाव समझना चाहिए।

"नानाद्रव्यैर्बहुविधैर्व्यजनं भाव्यते यथा।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह।।"

- 'नाट्यशास्त्र'।

अर्थात्, जिस प्रकार भिन्न-भिन्न सामग्री युक्त व्यंजनों के साथ जुड़े हुए (वैयक्तिक) रस (स्वाद) का आस्वादन हो सकता है, उसी प्रकार अभिनय के साथ जुड़े हुए रस सहित भावों का (भी वैयक्तिक) आस्वादन हो सकता है।

"न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रस वर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्।।"

- 'नाट्यशास्त्र'।

अर्थात्, भाव के बिना रस तथा रस के बिना भाव कभी संभव नहीं है। इनके परस्पर के संबंध के कारण ही अभिनय की सिद्धि है।

प्रस्तुत आकृति रस के घटक तत्त्वों का परस्पर संबंध स्पष्ट करती है :[९६]

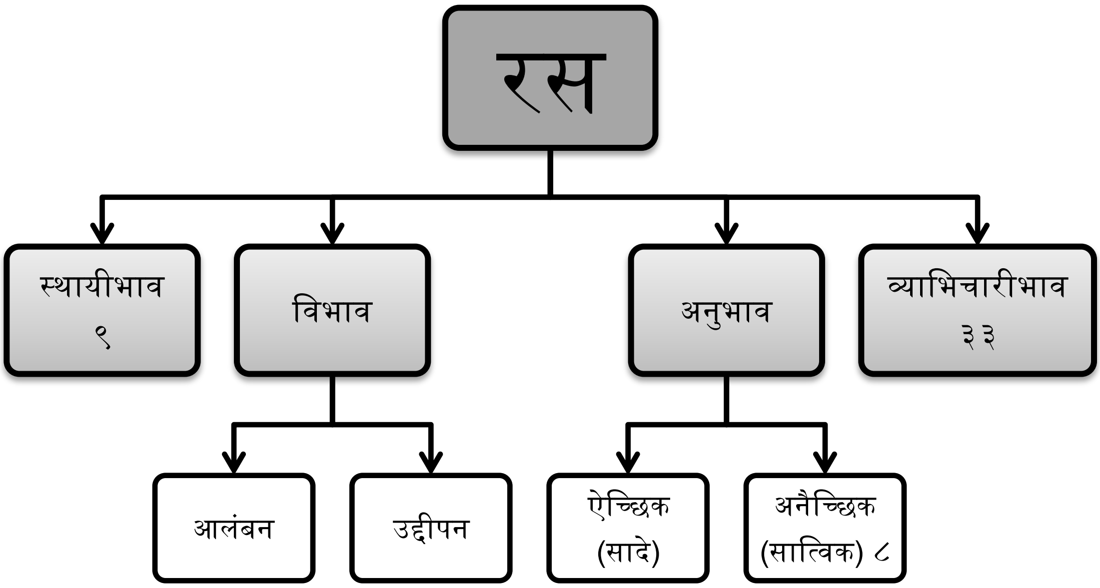

उपरोक्त सभी घटकों के उचित संयोग से कलाकृति में रसाभिव्यक्ति संभव होती है। ये सभी स्वतंत्ररूप से अपने आप में जो हैं, उससे अन्य से संयोजित होने पर काफ़ी अलग रूप धारण करते हैं। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार नमक अकेला नहीं खाया जा सकता, परंतु आहार में उसकी उपस्थिति अनिवार्य मेहसूस होती है।

२.२.४ : ९ रस का अपने अंगों के साथ विवरण :-

- **श्रृंगार रस :**

देवता		विष्णु।
वर्ण		श्याम।
स्थायीभाव		रति।
विभाव	आलंबन	नायक के लिए नायिका, नायिका के लिए नायक।
	उद्दीपन	रम्य ऋतु, वातावरण, चंद्र, चांदनी, उद्यान, सुवास, मधुर रव, पुष्प, आभूषण, एकांत, विशिष्ट चेष्टाएँ, इत्यादि।
अनुभाव	सादे	स्नेहपूर्वक अवलोकन, कटाक्ष, स्पर्श, भृकुटिभंग, आश्लेष, स्मित, इत्यादि।
	सात्त्विक	रोमांच, स्तब्ध/स्तंभ, अश्रु, इत्यादि।
व्याभिचारीभाव		चिंता, मोह, स्मृति, धृति, लज्जा/व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, उत्सुकता/औत्सुक्य, अपस्मार, उन्माद, वितर्क, इत्यादि।
मूल प्रवृत्ति		काम प्रबद्ध।

स्त्री-पुरुष के परस्पर के अनुराग से उत्पन्न रस को 'श्रृंगार रस' माना गया है।

श्रृंगार रस के दो भेद बताये गए हैं : १) संभोग श्रृंगार तथा २) विप्रलंभ श्रृंगार। नायक-नायिका का संयोग संभोग श्रृंगार कहलाता है, जबकि उनका वियोग विप्रलंभ श्रृंगार कहलाता है।

काव्य द्वारा उदाहरण :

“बतरस लालच लाल की, मुरली धरि तुकाय।
सौंह करे, भौंहनि हँसे, देन कहे, नटि जाय।।”

- बिहारी।(संभोग)

“निसदिन बरसत नयन हमारे।
सदा रहति पावस ऋतु हम पे जब ते स्याम सिधारे।।”

- सूरदास।(विप्रलंभ)

श्रृंगार रस प्रायः सभी ललित कलाओं में सर्वाधिक प्रमाण में निरूपित दृश्यमान होता है। इसमें भारतीय संगीत भी समाविष्ट है।

संगीत की तीनों विधाएँ - गायन, वादन तथा नर्तन में श्रृंगार रस की निष्पत्ति को लेकर परस्पर भिन्न-भिन्न, निजी संभावनाएँ, क्षमताएँ निहित हैं।

गायन में साहित्य - जो कि सार्थ है, रस-निष्पत्ति में सहायक महत्त्वपूर्ण घटक है। गायन की बंदिशों के साहित्य पक्ष का विश्लेषण किया जाए, तो स्पष्ट होता है, कि सर्वाधिक बंदिशें श्रृंगार रस प्रधान हैं। भारतीय शास्त्रीय संगीत में बंदिश प्रस्तुति का बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग है। बंदिश के आसपास उपज करते हुए रस-निष्पत्ति की जाती है। कई राग श्रृंगार रस प्रधान है। अतः गायन विधा में श्रृंगार रस का प्राधान्य विदीत होता है।

वादन अर्थ सभर विधा नहीं है, परंतु सूक्ष्मता से अवलोकन करने पर उसकी प्रस्तुति में मृदुता, मधुरता, इत्यादि के कारण श्रृंगार रस की अत्याधिकता विदीत होती है। कई वाद्यों का निजी ध्वनि-गुण श्रृंगार रस प्रधान है, जैसे संतुर, सितार, जलतरंग, इत्यादि। कई वाद्य ऐसे होते हैं, जो श्रृंगार रस की निष्पत्ति में सहायक बनते हैं। कई राग श्रृंगार रस प्रधान है। कण, क्रिन्तन, खटका, मुरकी, इत्यादि तत्त्व श्रृंगार रस की उत्पत्ति में सहायक बनते हैं। भारतीय शास्त्रीय संगीत में वादन विधा

को सार्वत्रिक, समग्रलक्षी दृष्टिकोण से देखा जाए, तो श्रुंगार रस का प्राधान्य विदीत होता है।

नर्तन में साहित्य और अभिनय दोनों सार्थ घटक हैं। स्पष्ट रस निष्पत्ति में ये काफी महत्त्वपूर्ण हैं। नर्तन प्रस्तुतिओं का, नर्तन कृतिओं को विश्लेषण किया जाए, तो उनमें श्रुंगार रस की अत्याधिकता विदीत होती है। कुछ नृत्य शैलियाँ विशेष रूप से श्रुंगार प्रधान हैं, जैसे कथक, मणिपुरी, मोहिनीअट्टम, इत्यादि।

- **हास्य रस :**

देवता		शिवगण।
वर्ण		श्वेत।
स्थायीभाव		हास।
विभाव	आलंबन	विचित्र, विकृत वाणी, वेश, आकार वाला व्यक्ति या पदार्थ।
	उद्दीपन	विचित्र, विकृत, हास्यास्पद चेष्टाएँ, झघड़े, इत्यादि।
अनुभाव	सादे	नेत्र-निमिलन, नेत्र-विकास, मुख-विकास, ओंठ-नाक-गाल हिलना, पेट पकड़ना, ताली बजाना, कूदना, इत्यादि।
	सात्त्विक	स्वरभंग/वैस्वर्य, इत्यादि।
व्याभिचारीभाव		आलस, मद, हर्ष, आवेग, गर्व, निद्रा/सुप्त, अपस्मार, सुषुप्तता, विबोध, अवहित्थ, उन्माद, इत्यादि।
मूल प्रवृत्ति		आमोद।

विपरीत, हास्यास्पद पदार्थ, परिस्थिति या व्यक्ति से उत्पन्न रस को 'हास्य रस' माना गया है।

हास्य रस के छः भेद बताये गए हैं : १) स्मित, २) हसित, ३) विहसित, ४) अवहसित, ५) अपहसित तथा ६) अतिहसित। स्मित में सिर्फ़ ओंठ कांपते हैं तथा नेत्र का थोड़ा-सा विकास होता है; हसित में दंतरेखा भी थोड़ी-सी प्रदर्शित होती है; विहसित में मधुर स्वर भी निकलता है; अवहसित में मस्तक तथा स्कंधरेखा में भी कंप आता है; अपहसित में इनके उपरांत आँख से अश्रु भी निकलते हैं तथा अतिहसित में पेट इत्यादि अंग पकड़ना या हाथ-पैर इत्यादि अंग पटकना भी होता है। स्मित-हसित को उत्तम, विहसित-अवहसित को मध्यम तथा अपहसित-अतिहसित को अधम

पात्र की क्रिया माना गया है। कुछ विद्वानों ने हास्य के पाँच भेद स्मित, विहसित, अट्टहास, उपहास तथा प्रहास बताए हैं।

हास्य के दो प्रकार माने गए हैं : १) आत्मस्थ - स्वयं हँसना तथा २) परस्थ - अन्य को हँसाना।

काव्य द्वारा उदाहरण :

"तंबूरा ले मंच पर बैठे प्रेम प्रताप,
साज मिले पंद्रह मिनट घंटा भर आलाप।
घंटा भर आलाप, राग में मारा गोता;
धीरे-धीरे खिसक चुके थे सारे श्रोता।।"

- काका हाथरसी।

हास्य रस प्रायः सभी ललित कलाओं में निरूपित दृश्यमान होता है, पर अत्याधिक प्रमाण में नहीं। इसमें भारतीय संगीत भी समाविष्ट है।

संगीत की तीनों विधाएँ - गायन, वादन तथा नर्तन में हास्य रस की निष्पत्ति को लेकर परस्पर भिन्न-भिन्न, निजी संभावनाएँ, क्षमताएँ निहित हैं।

गायन में सार्थ घटक साहित्य के कारण इस रस की उपस्थिति संभव है। गायन की बंदिशों के साहित्य पक्ष का विश्लेषण किया जाए, तो स्पष्ट होता है, कि हास्य रस का निरूपण हुआ है, परंतु अत्याधिक नहीं। वह भी, अधिकांश श्रृंगार मिश्रित हास्य रस होता है।

वादन विधा स्वतंत्र रूप से हास्य रस कि निष्पत्ति कर सके, ऐसा संभव नहीं। नर्तन, नाट्य, इत्यादि में साथ-संगत के रूप में इस रस का पोषक, सहायक वाद्य-संगीत प्रस्तुत किया जा सकता है। विशेषतः कुछ अति चंचल प्रकृति के वाद्यों का प्रयोग इस प्रकार कि संगत में उपयोगी सिद्ध होता है।

नर्तन में साहित्य के उपरांत अभिनय कि उपस्थिति के कारण संगीत कि अन्य विधाओं कि अपेक्षा हास्य रस की निष्पत्ति की संभावना, क्षमता अत्याधिक बढ़ जाती है। उसका निरूपण हुआ भी है, पर प्रायः आंशिक रूप से, संपूर्ण कृति हास्य रसयुक्त हो, ऐसा अधिकांश दृष्टिगोचर नहीं होता।

- **रौद्र रस :**

देवता		रूद्र।
वर्ण		रक्त।
स्थायीभाव		क्रोध।
विभाव	आलंबन	शत्रु, द्रोही, दुराचारी, धूर्त, अपकारी, उद्धत, जूठा व्यक्ति।
	उद्दीपन	जूठ, द्रोह, अपमानजनक, प्रतिशोध, इर्ष्या, इत्यादि चेष्टाएँ।
अनुभाव	सादे	भृकुटि वक्र होना, आँख लाल होना, ओंठ पीसना, गर्व, तिरस्कार, गर्जना, शस्त्र उठाना, प्रहार करना, युद्ध की तैयारी, आक्रमण, इत्यादि।
	सात्त्विक	स्वरभंग/वैस्वर्य, कंप/वेपथु, स्तब्ध/स्तंभ, इत्यादि।
व्याभिचारीभाव		शंका, असूया, मद, मोह, चपलता, गर्व, अपस्मार, अमर्ष, उग्रता, इत्यादि।
मूल प्रवृत्ति		वियोत्साह।

नापसंद बात नकारने के लिए सक्षम पात्र में गुस्से के साथ प्रतिकार की भावना जाग्रत होती है, जिससे उत्पन्न रस को 'रौद्र रस' माना गया है।

रौद्र के तीन प्रकार माने गए हैं : वाक् - वाणी से, नेपथ्य - वेश-भूषा से, तथा अंग - शरीर से।

काव्य द्वारा उदाहरण :

"श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्षोभ से जलने लगे।
सब शील अपना भूलकर करतल युगल मलने लगे।।

संसार देखे अब हमारे शत्रु रण में मृत पड़े।
करते हुए यह घोषणा वे हो गए उठ कर खड़े।।"

- मैथिलीशरण गुप्त।

रौद्र रस प्रायः सभी ललित ललित कलाओं में निरूपित दृश्यमान होता है, पर अत्याधिक प्रमाण में नहीं। इसमें भारतीय संगीत भी समाविष्ट है।

संगीत की तीनों विधाएँ - गायन, वादन तथा नर्तन में रौद्र रस की निष्पत्ति को लेकर परस्पर भिन्न-भिन्न, निजी संभावनाएँ, क्षमताएँ निहित हैं।

गायन में सार्थ घटक साहित्य के कारण इस रस की उपस्थिति संभव है। गायन की बंदिशों के साहित्य पक्ष का विश्लेषण किया जाए, तो स्पष्ट होता है, कि रौद्र रस का निरूपण बहुत कम प्रमाण में हुआ है। वह भी, अधिकांश वीर या श्रुंगार मिश्रित रौद्र रस होता है। जलद, अति द्रुत तानें इस रस की पोषक सिद्ध हो सकती है।

वादन विधा स्वतंत्र रूप से रौद्र रस की निष्पत्ति कर सके, ऐसा प्रायः संभव नहीं। नर्तन, नाट्य, इत्यादि में साथ-संगत के रूप में इस रस का पोषक, सहायक वाद्य-संगीत प्रस्तुत किया जा सकता है। विशेषतः भारी ताल-वाद्यों का प्रयोग इस प्रकार की संगत में उपयोगी सिद्ध होता है। जलद तानें, गमक, अति द्रुत लय, इत्यादि का प्रयोग भी इस रस का पोषक सिद्ध हो सकता है।

नर्तन में साहित्य के उपरांत अभिनय की उपस्थिति के कारण संगीत की अन्य विधाओं की अपेक्षा रौद्र रस की निष्पत्ति की संभावना, क्षमता अत्याधिक बढ़ जाती है। आंशिक रूप से इसका निरूपण कई कृतिओं में हुआ है, विशेषतः श्रुंगार, वात्सल्य या वीर मिश्रित रौद्र के रूप में। कभी-कभी संपूर्ण कृति भी रौद्र रस प्रधान दृष्टिगोचर होती है।

- **करुण रस :**

देवता		यम।
वर्ण		कपोत।
स्थायीभाव		शोक।
विभाव	आलंबन	प्रिय व्यक्ति या वस्तु का विनाश या हानि इत्यादि दुःखद परिस्थिति, श्राप, इत्यादि।
	उद्दीपन	प्रिय व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति की स्मृति जो वास्तव में नहीं रही हो, उसे याद करवाने वाली कोई भी क्रिया या घटना, इत्यादि।
अनुभाव	सादे	रुदन-विलाप, निश्वास, निराशा, शक्तिरहित अंग, चुपकीदी, बेध्यान, विस्मृति, जमीं पर गिरना, इत्यादि।
	सात्त्विक	स्तब्ध/स्तंभ, स्वरभंग/वैस्वर्य, वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलय, इत्यादि।
व्याभिचारीभाव		निर्वेद, ग्लानि, श्रम, दीनता, चिंता, स्मृति, जड़ता, विषाद, अपस्मार, व्याधि, मृत्यु, इत्यादि।
मूल प्रवृत्ति		शरणागति।

अप्रिय घटना या परिस्थिति के प्रतिकार के लिए अक्षम पात्र लाचारी मेहसूस करता है, जिससे उत्पन्न रस को 'करुण रस' माना गया है।

करुण रस के तीन प्रकार माने गए हैं : धर्मोपगत - क़ानूनी सजा से, अर्थपचेय - संपत्ति गँवाने से तथा शोक - दुःख से।

काव्य द्वारा उदाहरण :

“सोक बिकल सब रोवहिं रानी।
रूपु सीलु बलु तेजु बखानी।।
करहिं विलाप अनेक प्रकारा।
परिहिं भूमि तल बारहिं बारा।।”

- तुलसीदास।

करुण रस प्रायः सभी ललित कलाओं में अधिक प्रमाण में निरूपित दृश्यमान होता है। इसमें भारतीय संगीत भी समाविष्ट है।

संगीत की तीनों विधाएँ - गायन, वादन तथा नर्तन में करुण रस की निष्पत्ति को लेकर परस्पर भिन्न-भिन्न, निजी संभावनाएँ, क्षमताएँ निहित है।

गायन में सार्थ घटक साहित्य के कारण इस रस की उपस्थिति संभव है। बंदिशों का विश्लेषण किया जाए, तो करुण रस प्रधान साहित्य अत्याधिक नहीं मिलता, उसका आंशिक प्रयोग ही हुआ है। परंतु भारतीय शास्त्रीय संगीत के कई राग करुण रस प्रधान या उसके पोषक हैं। विशेषतः आलाप, मींड़, विलंबित लय, इत्यादि तत्त्व इस रस की अभिव्यक्ति के माध्यम बनते हैं।

वादन अर्थ सभर विधा नहीं है, परंतु वाद्य संगीत के माध्यम से इस रस की अभिव्यक्ति अत्याधिक प्रभावपूर्ण ढंग से हुई है। स्वतंत्र वादन या साथ-संगत, दोनों में करुण रस अभिव्यक्त करने वाद्य संगीत सक्षम है। विशेष रूप से करुण रस प्रधान राग में आलाप, मींड़, विलंबित लय, इत्यादि का प्रयोग इस रस की निष्पत्ति करता है। कई वाद्यों का निजी ध्वनि-गुण करुण रस प्रधान है, जैसे वायलिन, सारंगी, इत्यादि। कई वाद्य ऐसे हैं, जो इस रस की निष्पत्ति में सहायक होते हैं।

नर्तन में साहित्य के उपरांत अभिनय की उपस्थिति से इस रस की अभिव्यक्ति स्पष्टरूप से संभव है। संपूर्ण कृति में इस रस का निरूपण कम प्रमाण में मिलता है,

परंतु श्रुंगार, वात्सल्य, भक्ति, रौद्र, भयानक, इत्यादि के साथ इसका निरूपण अत्याधिक प्रमाण में दृष्टिगोचर होता है।

- **वीर रस :**

देवता		महेन्द्र।
वर्ण		गौर।
स्थायीभाव		उत्साह।
विभाव	आलंबन	शत्रु या अन्य परिस्थिति जिस पर विजय प्राप्त करने की आकांक्षा हो।
	उद्दीपन	शत्रु की चेष्टा, निश्चय, विवेक, आज्ञाकारिता, शक्ति, साहस, बल, महिमा, इत्यादि।
अनुभाव	सादे	स्थिरता, अड़गता, धैर्य, त्याग, शौर्य, निपुणता, स्पष्टता, नेतृत्त्व, इत्यादि।
	सात्विक	रोमांच, इत्यादि।
व्याभिचारीभाव		शंका, श्रम, स्मृति, धृति, चपलता, हर्ष, गर्व, उत्सुकता/औत्सुक्य, अमर्ष, उग्रता, मति, उन्माद, वितर्क, इत्यादि।
मूल प्रवृत्ति		आत्माभिमान।

पड़कार को झेलने सक्षम पात्र विस्मय, मोह, भय इत्यादि से मुक्त तथा बहादुर, सतर्क होने पर उत्पन्न रस को 'वीर रस' माना गया है।

वीर रसके चार भेद बताये गए हैं : १) दानवीर, २) धर्मवीर, ३) युद्धवीर तथा ४) दयावीर। दानी व्यक्ति से दानवीर, धर्मिष्ठ व्यक्ति से धर्मवीर, योद्धा से युद्धवीर तथा दयालु व्यक्ति से दयावीर की उत्पत्ति बताई गई है। कुछ विद्वानों ने

सत्यवीर, पांडित्यवीर, इत्यादि भेद भी माने हैं। कुछ विद्वानों ने सिर्फ़ युद्धवीर को ही वीर रस के अंतर्गत माना है।

काव्य द्वारा उदाहरण :

"वीर तुम बढ़े चलो, धीर तुम बढ़े चलो।
सामने पहाड़ हो कि सिंह की दहाड़ हो।।
तुम कभी रुको नहीं।
तुम कभी झुको नहीं।।

- द्वारिका प्रसाद माहेश्वरी।

वीर रस प्रायः सभी ललित कलाओं में निरूपित दृश्यमान होता है, पर अत्याधिक प्रमाण में नहीं। इसमें भारतीय संगीत भी समाविष्ट है।

गायन में सार्थ घटक साहित्य के कारण इस रस की उपस्थिति संभव है। बंदिशों का विश्लेषण किया जाए, तो वीर रस प्रधान साहित्य अत्याधिक नहीं मिलता, उसका आंशिक प्रयोग ही हुआ है। भक्ति रस के साथ भी इसका प्रयोग दृश्यमान होता है। कुछ राग वीर रस प्रधान हैं। द्रुत लय, तानें, गमक, मींड़, आदि का प्रयोग इस रस का पोषक सिद्ध होता है।

वादन अर्थ सभर विधा नहीं है, परंतु सूक्ष्मता से अवलोकन करने पर उसकी प्रस्तुति में इस रस की उपस्थिति अनुभव होती है। विशेषतः वीर रस प्रधान राग, द्रुत या अति द्रुत लय, मींड़, सूत, गमक, तानें, आदि का प्रयोग इस रस का पोषक सिद्ध होता है। वाद्य के ध्वनि-गुण की दृष्टि से विशेषतः ताल वाद्य इस रस के पोषक, सहायक सिद्ध होते हैं।

नर्तन में साहित्य के उपरांत अभिनय की उपस्थिति इस रस की निष्पत्ति की संभावना अत्याधिक बढ़ा देती है। कृतिओं में आंशिक रूप से भी इसका निरुपण

दृश्यमान होता है, विशेषतः भक्ति, रौद्र इत्यादि रस के साथ। उपरांत, संपूर्ण कृति वीर रस प्रधान हो, ऐसा भी दृश्यमान होता है।

- **अद्भुत रस :**

देवता		ब्रह्मा।
वर्ण		पीला।
स्थायीभाव		विस्मय।
विभाव	आलंबन	आश्चर्यजनक, अलौकिक वस्तु, व्यक्ति या घटना।
	उद्दीपन	आश्चर्यजनक, अलौकिक वस्तु, व्यक्ति या घटना की महिमा, गुणों की स्मृति, इत्यादि।
अनुभाव	सादे	नेत्र-मुख-विकास, चकित होना, दांत में उँगली दबाना, उद्गार, इत्यादि।
	सात्त्विक	स्तब्ध/स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग/वैस्वर्य, अश्रु, इत्यादि।
व्याभिचारीभाव		मोह, धृति, हर्ष, आवेग, गर्व, चपलता, अपस्मार, उन्माद, वितर्क, इत्यादि।
मूल प्रवृत्ति		कौतुहल।

अति आश्चर्यजनक घटना या परिस्थिति से उत्पन्न रस को 'अद्भुत रस' माना गया है।

अद्भुत रस के दो प्रकार माने गए हैं : दिव्य - अलौकिकता से तथा आनंद - सुख/खुशी से।

काव्य द्वारा उदाहरण :

"अखिल भुवन चर-अचर सब,
हरि मुख में लखि मातु।

चकित भई गद्गद् वचन,
विकसित दृग पुलकातु।।"

- सेनापति।

अद्भुत रस प्रायः सभी ललित कलाओं में निरूपित दृश्यमान होता है। इसमें भारतीय संगीत भी समाविष्ट है।

संगीत की तीनों विधाएँ - गायन, वादन तथा नर्तन में अद्भुत रस की निष्पत्ति को लेकर परस्पर भिन्न-भिन्न, निजी संभावनाएँ, क्षमताएँ निहित हैं।

गायन में सार्थ घटक साहित्य के कारण इस रस की उपस्थिति संभव है। बंदिशों का विश्लेषण किया जाए, तो अद्भुत रस प्रधान साहित्य दृष्टिगोचर होता है। भक्ति, वीर, इत्यादि रस के साथ मिश्रित रूप से इसका निरूपण अत्याधिक प्रमाण में होता है। द्रुत लय, लयकारी, मींड़, गमक, अति मंद्र या अति तार सप्तक का प्रयोग, इत्यादि इस रस का पोषक सिद्ध होता है।

वादन अर्थ सभर विधा नहीं है, परंतु अपनी विशिष्ट तकनिकों के कारण उसकी प्रस्तुति में इस रस की उपस्थिति अनुभव होती है। द्रुत, अति द्रुत लय, लयकारी, मींड़, गमक, इत्यादि इस रस के पोषक हैं। स्वतंत्र वादन के उपरांत साथ-संगत में भी सहायक के रूप में अनुरूप वाद्य संगीत इस रस का पोषक सिद्ध होता है।

नर्तन में साहित्य के उपरांत अभिनय की उपस्थिति इस रस की निष्पत्ति की संभावना अत्याधिक बढ़ा देती है। संपूर्ण कृति में इस रस का निरूपण हो, ऐसा कम प्रमाण में होता है, परंतु श्रृंगार, भक्ति, वात्सल्य, वीर, इत्यादि रस के साथ इसका निरूपण अत्याधिक प्रमाण में होता है। विविध लयकारी, आश्चर्यजनक अंग-भंगिमाएँ, इत्यादि विशेष रूप से इस रस के पोषक सिद्ध होते हैं।

- **बीभत्स रस :**

देवता		महाकाल।
वर्ण		नील।
स्थायीभाव		जुगुप्सा।
विभाव	आलंबन	अपवित्र, अनिष्ट, दुर्गन्धयुक्त, जुगुप्साप्रेरक पदार्थ - माँस, रुधिर, मेद, मल, गंदगी तथा उससे संलग्न व्यक्ति।
	उद्दीपन	माँस नोंचना, कीड़े निकलना, जुगुप्साप्रेरक पदार्थ, परिस्थिति या व्यक्तिकी स्मृति, इत्यादि।
अनुभाव	सादे	नेत्र-निमिलन, थूकना, कै करना, नाक दबाना, मुँह बिगाड़ना, मुँह फेर लेना, इत्यादि।
	सात्त्विक	कंप/वेपथु, इत्यादि।
व्याभिचारीभाव		मोह, आवेग, अपस्मार, व्याधि, मृत्यु, त्रास, इत्यादि।
मूल प्रवृत्ति		निवृत्ति।

अत्यंत ख़राब, विचित्र, विकृत, जुगुप्साप्रेरक पदार्थ, परिस्थिति या व्यक्ति से उत्पन्न रस को 'बीभत्स रस' माना गया है।

बीभत्स के तीन प्रकार माने गए हैं : क्षोभन - सिहरन (कंप), शुद्ध - असली/वास्तविक तथा उद्वेग - परेशानी से युक्त।

काव्य द्वारा उदाहरण :

"सिर पर बैठवो काग आँख दोउ खात निकारत।
खींचत जीभहिं स्यार अतिहि आनंद उर धारत।।

गीध जांहि को खोदि-खोदि कै माँस उपारत।
स्वान आंगुरिन काटि-काटि कै खात विदारत।।"

- भारतेन्दु।

बीभत्स रस का निरूपण प्रायः सभी ललित कलाओं में सर्वाधिक कम प्रमाण में दृश्यमान है। इसमें भारतीय संगीत भी समाविष्ट है।

संगीत की तीनों विधाएँ - गायन, वादन तथा नर्तन में बीभत्स रस की निष्पत्ति को लेकर परस्पर भिन्न-भिन्न, निजी संभावनाएँ, क्षमताएँ निहित हैं।

गायन में सार्थ घटक साहित्य के कारण तकनिकी दृष्टि से इसकी उपस्थिति संभव है, परंतु वास्तविक रूप से बंदिशों में इस रस का निरूपण दृष्टिगोचर नहीं होता है। नर्तन या नाट्य इत्यादि में इस रस के सहायक के रूप में साथ-संगत के स्वरूप में गायन का उपयोग होता है।

वादन अर्थ सभर विधा न होने से स्वतंत्र वादन में इस रस की उपस्थिति प्रायः असंभव है। परंतु नर्तन, नाट्य, इत्यादि के साथ संगत के रूप में इस रस के अनुरूप वाद्य संगीत का प्रयोग किया जाता है। अति तार सप्तक, विषम लय, इत्यादि का प्रयोग इस रस की निष्पत्ति में सहायक सिद्ध होता है।

नर्तन में साहित्य के उपरांत अभिनय की उपस्थिति इस रस की निष्पत्ति की संभावना अत्याधिक बढ़ा देती है। संपूर्ण कृति में इस रस का निरूपण अधिकांश नहीं होता, परंतु रौद्र, भयानक, इत्यादि के साथ इसका निरूपण होता है। यह रस अत्याधिक समय तक प्रिय, रुचिकर नहीं लगता, अतः प्रायः इसका आंशिक प्रयोग ही दृश्यमान होता है।

- **भयानक रस :**

देवता		काल।
वर्ण		काला।
स्थायीभाव		भय।
विभाव	आलंबन	भयजनक ध्वनि, पदार्थ, व्यक्ति या परिस्थिति , घोर निर्जनता, इत्यादि।
	उद्दीपन	भयजनक व्यक्ति, पदार्थ या परिस्थिति की भयंकर, भीषण चेष्टाएँ, उनकी स्मृति, इत्यादि।
अनुभाव	सादे	चोमेर देखना, मुख से भयावह उद्गार निकलना, इत्यादि।
	सात्त्विक	स्वेद, स्वरभंग/वैस्वर्य, कंप/वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु, इत्यादि।
व्याभिचारीभाव		शंका, दीनता, चिंता, मोह, आवेग, जड़ता, विषाद, अपस्मार, व्याधि, मृत्यु, त्रास, इत्यादि।
मूल प्रवृत्ति		आत्मरक्षा।

विकृत, भयंकर, भयजनक ध्वनि, पदार्थ, परिस्थिति, व्यक्ति या जीव-जंतु से उत्पन्न रस को 'भयानक रस' माना गया है।

भयानक रस के दो भेद बताये गए हैं : १) साहजिक तथा २) कृतक।

भयानक के तीन प्रकार माने गए हैं : व्यजन - छल से, अपराध - गुनाह से तथा त्रासित - आतंक से।

काव्य द्वारा उदाहरण :

"उधर गरजती सिंधु लहरियाँ
कुटिल काल के जालों सी।
चली आ रही फैन उगलती
फन फैलाये व्यालों - सी।।"

- जयशंकर प्रसाद।

भयानक रस का निरूपण प्रायः सभी ललित कलाओं में दृश्यमान होता है, पर अत्याधिक प्रमाण में नहीं। इसमें भारतीय संगीत भी समाविष्ट है।

संगीत की तीनों विधाएँ - गायन, वादन तथा नर्तन में भयानक रस की निष्पत्ति को लेकर परस्पर भिन्न-भिन्न, निजी संभावनाएँ, क्षमताएँ निहित हैं।

गायन में सार्थ घटक साहित्य के कारण इस रस की उपस्थिति संभव है। गायन की बंदिशों के साहित्य पक्ष का विश्लेषण किया जाए, तो स्पष्ट होता है, कि भयानक रस का निरूपण कम प्रमाण में हुआ है। वह भी, अधिकांश विरह-श्रुंगार से मिश्रित भयानक होता है। विश्रांति, अति तार सप्तक, विषम लय, इत्यादि इस रस के पोषक सिद्ध होते हैं।

वादन विधा स्वतंत्र रूप से भयानक रस की निष्पत्ति कर सके, ऐसा प्रायः संभव नहीं। नर्तन, नाट्य, इत्यादि में साथ-संगत के रूप में इस रस का पोषक, सहायक वाद्य संगीत प्रस्तुत किया जा सकता है। विशेषतः भारी ताल वाद्यों का प्रयोग इस प्रकार की संगत में उपयोगी सिद्ध होता है। विश्रांति, अति तार सप्तक, विषम लय, गमक, इत्यादि का प्रयोग भी इस रस का पोषक सिद्ध होता है।

नर्तन में साहित्य के उपरांत अभिनय की उपस्थिति के कारण संगीत की अन्य विधाओं की अपेक्षा भयानक रस की निष्पत्ति की संभावना, क्षमता अत्याधिक बढ़ जाती है। संपूर्ण कृति में इस रस का निरूपण हो, ऐसा कम दृष्टिगोचर होता है, परंतु

आंशिक रूप से इसका निरूपण कई कृतिओं में हुआ है। विशेषतः रौद्र, बीभत्स, विरह्-श्रृंगार, इत्यादि से मिश्रित रूप में भयानक का निरूपण दृष्टिगोचर होता है।

- **शांत रस :**

देवता		हरि।
वर्ण		श्वेत।
स्थायीभाव		सम/निर्वेद।
विभाव	आलंबन	तत्त्वज्ञान, आत्मा-परमात्मा के स्वरुप का, संसार की निःसारता का ज्ञान, इत्यादि।
	उद्दीपन	पवित्र स्थल, आश्रम, तीर्थ, उपवन, सत्संग, दुःखद घटना, श्रद्धा, इत्यादि।
अनुभाव	सादे	संयम, करुणा, बैराग।
	सात्त्विक	स्तब्ध/स्तंभ, रोमांच, अश्रु, इत्यादि।
व्याभिचारीभाव		निर्वेद, स्मृति, धृति, हर्ष, विबोध, मति, वितर्क, इत्यादि।
मूल प्रवृत्ति		आत्महीनता।

पवित्र स्थान - समय पर किसी भी प्रकार के मानसिक उद्वेग, अस्थिरता की अनुपस्थिति में उत्पन्न रस को 'शांत रस' माना गया है।

काव्य द्वारा उदाहरण :

"मन रे तन
कागद का पुतला।
लागे बूँद बिनसि जाय छिन में,
गरब करे क्या इतना।।"

- कबीर।[१७]

शांत रस प्रायः सभी ललित कलाओं में अत्याधिक प्रमाण में निरूपित दृश्यमान होता है। इसमें भारतीय संगीत भी समाविष्ट है।

संगीत की तीनों विधाएँ - गायन, वादन तथा नर्तन में शांत रस की निष्पत्ति को लेकर परस्पर भिन्न-भिन्न, निजी संभावनाएँ, क्षमताएँ निहित हैं।

गायन में सार्थ घटक साहित्य रस निष्पत्ति में सहायक महत्त्वपूर्ण घटक है। गायन की बंदिशों के साहित्य पक्ष का विश्लेषण किया जाए, तो स्पष्ट होता है, कि शांत रस का निरूपण काफी प्रमाण में हुआ है। भक्ति रस के साथ मिश्रित रूप में भी शांत दृश्यमान होता है। राग-गायन, आलाप, विलंबित लय, मींड़, मंद्र सप्तक, विश्रांति, इत्यादि भारतीय शास्त्रीय संगीत के विशिष्ट तत्त्व अपने आप में शांत रस के पोषक हैं।

वादन अर्थ सभर विधा नहीं है, परंतु सूक्ष्मता से अवलोकन करने पर उसकी प्रस्तुति में मृदुता, माधुर्य, गांभीर्य, इत्यादि के कारण शांत रस की अत्याधिकता विदीत होती है। कई वाद्यों का निजी ध्वनि-गुण शांत रस प्रधान है, जैसे बाँसुरी, सरोद, वीणा, इत्यादि। राग संगीत की बढ़त का मूलभूत ढंग शांत रस प्रधान है। आलाप, विलंबित लय, मंद्र सप्तक, मींड़ अंग, इत्यादि विशेष रूप से शांत रस के पोषक सिद्ध होते हैं।

नर्तन में साहित्य के उपरांत अभिनय की उपस्थिति रस की स्पष्ट अभिव्यक्ति की संभावना बढ़ाती है। कई कृतिओं में पूर्णतः या भक्ति के साथ आंशिक रूप से शांत रस का निरूपण दृष्टिगोचर होता है। गायन तथा वादन की तरह भारतीय नर्तन का भी मूलभूत स्वभाव, लाक्षणिकता शांत रस के पोषक हैं।

वर्तमान समय में इन ९ रस के उपरांत भक्ति एवं वात्सल्य रस को भी अत्याधिक कलाकारों ने माना है। परंतु, उन्हें श्रुंगार की शाखा मान लिया गया है।

विद्वानों का मंतव्य है, कि भक्ति तथा वात्सल्य का स्थायीभाव रति ही है। अपने से बड़ों के प्रति रति भक्ति रस का निर्माण करती है। अपने से छोटों के प्रति रति वात्सल्य रस का निर्माण करती है।

क्योंकि श्रुंगार का स्थायीभाव भी रति है, इन दोनों को उसी की शाखा मानना तर्कपूर्ण है। परंतु, विभाव, अनुभाव, व्याभिचारीभाव, इत्यादि श्रुंगार के नज़दीकी हैं, पर समान नहीं है। उनमें थोड़ा फ़र्क हो जाता है।

संगीत की तीनों विधाएँ गायन-वादन-नर्तन में श्रुंगार की तरह ही वात्सल्य एवं भक्ति रस का निरूपण भी दृष्टिगोचर होता है। भारतीय संगीत में ईश्वर आराधना के रूप में भक्ति रस तथा ईश्वर के बाल रूप के प्रति वात्सल्य रस का स्थान अत्याधिक प्रमाण में पाया जाता है।

<u>संदर्भ</u>

१ राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). नृत्यकला : रसनिष्पत्ति अने रसानुभूति. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. ७३-७४।

२ शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. ४३; शर्मा, प्रेमलता. (१९८८). रस-सिद्धांत : मूल, शाखा, पल्लव और पतझड़, हीरानन्द शास्त्री स्मारक-व्याख्यानमाला-७. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. २, १६।

३ भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. २३०-२३१।

४ बृहस्पति कैलाशचंद्रदेव. (१९९१). भरत का संगीत सिद्धांत, हिन्दी-समिति-ग्रंथमाला-२८, द्वितीय संस्करण. उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ. २५८; शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ११९; शर्मा, प्रेमलता. (१९८८). रस-सिद्धांत : मूल, शाखा, पल्लव और पतझड़, हीरानन्द शास्त्री स्मारक-व्याख्यानमाला-७. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. १०४-१०५; राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). नृत्यकला : रसनिष्पत्ति अने

रसानुभूति. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. ८०-८१।

५ संगीत कला विहार (नवम्बर २०१४), पृ. ३३-३४।

६ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ८४-८५।

७ कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. २६-२७; Pandey, Kanti Chandra. (1959). Comparative Aesthetics, Volume I, Second edition. Chowkhamba Sanskrit series, Varanasi, P. 20-21, 31.

८ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ८५, ९६।

९ Bharatmuni. (2014). Natyashastra, Volume II, Second revised edition. Editor Unnai, N. P. NBBC publishers, Delhi, P. 563-565.

१० संगीत कलाविहार (जुलाई ८७), पृ. १८८-१८९।

११ भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. २३१, २३७, २४५।

१२ Sage open (October-December 2016), P. 2.

१३ राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). नृत्यकला : रसनिष्पत्ति अने रसानुभूति. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. ७४;

राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). कथक नृत्य अने रस. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. १३१।

१४ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ११६।

१५ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ११६।

१६ भार्गव, सरोज. (१९९९). सौन्दर्यबोध एवं ललितकलायें. कला प्रकाशन, वाराणसी, पृ. ३८।

१७ बृहस्पति कैलाशचंद्रदेव. (१९९१). भरत का संगीत सिद्धांत, हिन्दी-समिति ग्रंथमाला-२८, द्वितीय संस्करण. उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ. २५९।

१८ भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. २३६-२३७।

१९ Pandey, Kanti Chandra. (1959). Comparative Aesthetics, Volume I, Second edition. Chowkhamba Sanskrit series, Varanasi, P. 40, 42, 47.

२० शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ११६-११७।

२१ भार्गव, सरोज. (१९९९). सौन्दर्यबोध एवं ललितकलायें. कला प्रकाशन, वाराणसी, पृ. ३८।

२२ बृहस्पति कैलाशचंद्रदेव. (१९९१). भरत का संगीत सिद्धांत, हिन्दी-समिति-ग्रंथमाला-२८, द्वितीय संस्करण. उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ. २६०-२६१।

२३ भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. २३७-२३८।

२४ Pandey, Kanti Chandra. (1959). Comparative Aesthetics, Volume I, Second edition. Chowkhamba Sanskrit series, Varanasi, P. 48-49, 61, 63.

२५ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ११७।

२६ भार्गव, सरोज. (१९९९). सौन्दर्यबोध एवं ललितकलायें. कला प्रकाशन, वाराणसी, पृ. ३८।

२७ बृहस्पति कैलाशचंद्रदेव. (१९९१). भरत का संगीत सिद्धांत, हिन्दी-समिति-ग्रंथमाला-२८, द्वितीय संस्करण. उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ. २६१।

२८ भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. २४१-२४२।

२९ Pandey, Kanti Chandra. (1959). Comparative Aesthetics, Volume I, Second edition. Chowkhamba Sanskrit series, Varanasi, P. 75-76.

३० शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ११७-११८।

३१ भार्गव, सरोज. (१९९९). सौन्दर्यबोध एवं ललितकलायें. कला प्रकाशन, वाराणसी, पृ. ३८।

३२ बृहस्पति कैलाशचंद्रदेव. (१९९१). भरत का संगीत सिद्धांत, हिन्दी-समिति-ग्रंथमाला-२८, द्वितीय संस्करण. उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ. २६३-२६४।

३३ Pandey, Kanti Chandra. (1959). Comparative Aesthetics, Volume I, Second edition. Chowkhamba Sanskrit series, Varanasi, P. 86, 103, 116-117, 142-143, 153, 183-184.

३४ कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. २८-३१।

३५ भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. २४४-२४५, २५२-२५३।

३६ शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. ४६।

३७ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ९६।

३८ वही, पृ, ८४।

३९ भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. २३१।

४० Pandey, Kanti Chandra. (1959). Comparative Aesthetics, Volume I, Second edition. Chowkhamba Sanskrit series, Varanasi, P. 189, 191-192.

४१ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ९४; संगीत कला विहार (नवम्बर १४), पृ. ३३।

४२ शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. ४८।

४३ Pandey, Kanti Chandra. (1959). Comparative Aesthetics, Volume I, Second edition. Chowkhamba Sanskrit series, Varanasi, P. 336-339.

४४ शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. ४७; भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. २५८-१५९; Pandey, Kanti Chandra. (1959). Comparative Aesthetics, Volume I, Second edition. Chowkhamba Sanskrit series, Varanasi, P. 194, 199-200.

४५ राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). नृत्यकला : रसनिष्पत्ति अने रसानुभूति. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. ७५;

राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). कथक नृत्य अने रस. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. १३२; भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. २५५-२५६; Pandey, Kanti Chandra. (1959). Comparative Aesthetics, Volume I, Second edition. Chowkhamba Sanskrit series, Varanasi, P.201-221.

४६ संगीत कला विहार, (नवम्बर १४), पृ. ३३; शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ११८; राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). नृत्यकला : रसनिष्पत्ति अने रसानुभूति. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. ७५; राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). कथक नृत्य अने रस. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. १३२; शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. ४६।

४७ शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. ४७, ८६; भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. १३१, २६८-२७१।

४८ राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). नृत्यकला : रसनिष्पत्ति अने रसानुभूति. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. ७५।

४९ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ९५-९६।

५० संगीत कला विहार, (नवम्बर १४), पृ. ३३; शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ९५-९६; शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. ४५।

५१ भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. २३१, २६१।

५२ भार्गव, सरोज. (१९९९). सौन्दर्यबोध एवं ललितकलायें. कला प्रकाशन, वाराणसी, पृ. ३७, ३९-४०; शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ९५, १९९।

५३ राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). नृत्यकला : रसनिष्पत्ति अने रसानुभूति. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. ७४, ७६।

५४ शर्मा, प्रेमलता. (१९८८). शर्मा, प्रेमलता. (१९८८). रस-सिद्धांत : मूल, शाखा, पल्लव और पतझड़, हीरानन्द शास्त्री स्मारक-व्याख्यानमाला-७. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली : मूल, शाखा, पल्लव और पतझड़,

हीरानन्द शास्त्री स्मारक-व्याख्यानमाला-७. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. १०५-१०६।

५५ राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). कथक नृत्य अने रस. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. १३०।

५६ शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. ४५-४६।

५७ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ८३-९६; शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. ८२-८३।

५८ राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). नृत्यकला : रसनिष्पत्ति अने रसानुभूति. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. ७५; राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). कथक नृत्य अने रस. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. १३२।

५९ शर्मा, प्रेमलता. (१९८८). रस-सिद्धांत : मूल, शाखा, पल्लव और पतझड़, हीरानन्द शास्त्री स्मारक-व्याख्यानमाला-७. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. ७२-७४।

६० शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. ४५, ४९, ८४-८५, ८८-९४।

६१ बृहस्पति कैलाशचंद्रदेव. (१९९१). बृहस्पति कैलाशचंद्रदेव. (१९९१). भरत का संगीत सिद्धांत, हिन्दी-समिति-ग्रंथमाला-२८, द्वितीय संस्करण. उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, हिन्दी-समिति-ग्रंथमाला-२८, द्वितीय संस्करण. उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ. २६८-२६९।

६२ कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. २६-२७।

६३ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ८३, ९४-९६।

६४ Bharatmuni. (2014). Natyashastra, Volume II, Second revised edition. Editor Unnai, N. P. NBBC publishers, Delhi, P. 558; भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. २३२-२३५, २४६।

६५ पंड्या, शरद. (१९९५). नृत्यशास्त्र, द्वितीय आवृत्ति. प्रकाशक : शरद पंड्या, वडोदरा, पृ. ५७।

६६ बृहस्पति कैलाशचंद्रदेव. (१९९१). भरत का संगीत सिद्धांत, हिन्दी-समिति-ग्रंथमाला-२८, द्वितीय संस्करण. उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ. २५७।

६७ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ८९-९१।

६८ Pandey, Kanti Chandra. (1959). Comparative Aesthetics, Volume I, Second edition. Chowkhamba Sanskrit series, Varanasi, P. 30-244.

६९ राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). नृत्यकला : रसनिष्पत्ति अने रसानुभूति. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. १०१-१०७।

७० शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. ५२-५३, ६०।

७१ भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. २३३, २४६।

७२ बृहस्पति कैलाशचंद्रदेव. (१९९१). बृहस्पति कैलाशचंद्रदेव. (१९९१). भरत का संगीत सिद्धांत, हिन्दी-समिति-ग्रंथमाला-२८, द्वितीय संस्करण. उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ. २५७।

७३ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ९१-९२।

७४ Pandey, Kanti Chandra. (1959). Comparative Aesthetics, Volume I, Second edition. Chowkhamba Sanskrit series, Varanasi, P. 24.

७५ राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). नृत्यकला : रसनिष्पत्ति अने रसानुभूति. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. ९६।

७६ शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. ५३।

७७ बृहस्पति कैलाशचंद्रदेव. (१९९१). भरत का संगीत सिद्धांत, हिन्दी-समिति-ग्रंथमाला-२८, द्वितीय संस्करण. उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ. २५७; भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. २३३।

७८ भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. २३४, २४६।

७९ बृहस्पति कैलाशचंद्रदेव. (१९९१). भरत का संगीत सिद्धांत, हिन्दी-समिति-ग्रंथमाला-२८, द्वितीय संस्करण. उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ. २५८।

८० शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ९२-९४।

८१ शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. ५४-५५।

८२ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ९३-९४; भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद

कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ। २३४; Pandey, Kanti Chandra. (1959). Comparative Aesthetics, Volume I, Second edition. Chowkhamba Sanskrit series, Varanasi, P. 26-27.

८३ शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. ५५-५६.

८४ राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). नृत्यकला : रसनिष्पत्ति अने रसानुभूति. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. ९१।

८५ भट्ट मार्कंड. (१९५८). रूपप्रद कला. प्रकाशक : मार्कन्ड भट्ट, वडोदरा, पृ. २३४-२३५, २४६।

८६ बृहस्पति कैलाशचंद्रदेव. (१९९१). बृहस्पति कैलाशचंद्रदेव. (१९९१). भरत का संगीत सिद्धांत, हिन्दी-समिति-ग्रंथमाला-२८, द्वितीय संस्करण. उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, हिन्दी-समिति-ग्रंथमाला-२८, द्वितीय संस्करण. उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ. २५८।

८७ Bharatmuni. (2014). Natyashastra, Volume II, Second revised edition. Editor Unnai, N. P. NBBC publishers, Delhi, P. ५५८.

८८ राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). नृत्यकला : रसनिष्पत्ति अने रसानुभूति. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. ९१-९२।

८९ शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. ५६-५८।

९० शर्मा, प्रेमलता. (१९८८). रस-सिद्धांत : मूल, शाखा, पल्लव और पतझड़, हीरानन्द शास्त्री स्मारक-व्याख्यानमाला-७. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. ७४-७५।

९१ शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ९७; राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). नृत्यकला : रसनिष्पत्ति अने रसानुभूति. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. ८१-८४।

९२ शर्मा, प्रेमलता. (१९८८). शर्मा, प्रेमलता. (१९८८). रस-सिद्धांत : मूल, शाखा, पल्लव और पतझड़, हीरानन्द शास्त्री स्मारक-व्याख्यानमाला-७. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली : मूल, शाखा, पल्लव और पतझड़, हीरानन्द शास्त्री स्मारक-व्याख्यानमाला-७. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. ७४-७५।

९३ राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). नृत्यकला : रसनिष्पत्ति अने रसानुभूति. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. ८१-८४; शर्मा, स्वतंत्र. (२०१५). सौन्दर्य, रस एवं संगीत, द्वितीय आवृत्ति. अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. ९७।

९४ http://shakti.e-monsite.com/medias/images/navarasas.jpg

९५ कालरा श्रुति. (२०११). सौन्दर्यशास्त्र के मूलाधार. कनिष्क पब्लिशर्स, नई दिल्ली, पृ. २७।

९६ राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). नृत्यकला : रसनिष्पत्ति अने रसानुभूति. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. ८८, ९३-९४, ९७-९९।

९७ (२००१). संगीत - रस, परंपरा और विचार. संपादन चौरसिया, ओमप्रकाश. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. १३; शास्त्री, लक्ष्मीनाथ बद्रीनाथ. (१९५९). भारतीय सौन्दर्यशास्त्र, ललितकला विभाग ग्रंथमाळा. महाराजा सायजीराव यूनिवर्सिटी, वडोदरा, पृ. ९७-१०६; राठोड, भारती गुलाबराय. (२००७). कथक नृत्य अने रस. प्रकाशक : प्रवीण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, राजकोट, पृ. १३४-१३७; Sarabhai, Mrinalini. (1992). Understanding Bharatanatyam, Fifth edition. Darpan publication, Ahmedabad, P 39-46.